

ज्ञानदिवाकर, मर्यादा शिष्योत्तम, प्रशांतमूर्ति
आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज की स्वर्णजयंती वर्ष के उपलक्ष में :

मुनि श्री नागसेन विरचित
तत्त्वानुशासन

सम्पादन
आचार्यश्री भरतसागरजी महाराज

अर्थ सहबोगी
श्रीमती राखीदेवी सुपुत्र भागचन्द सेठी, डीमापुर (नागालैण्ड)



भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

भूमिका

तत्त्वानुशासन और उसका वैशिष्ट्य

डॉ० फूलचन्द जैन प्रेमी

अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णोन्नद स० वि०, वाराणसी

अध्यात्म-प्रधान जैनधर्म में ध्यान-योग और तप की साधना पद्धति का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राकृत के जैन आगमों में साधना के सूत्र सर्वत्र देखने को मिल जाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी पूज्यपाद, आचार्य शुभचन्द्र आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति अनेक जैनाचार्यों ने स्वतंत्र रूप से योग-ध्यान विषयक-विशाल साहित्य की रचना करके आध्यात्मिक-ग्रन्थ पर अग्रसर जीवों का मार्गदर्शन किया। किन्तु पिछली कुछ शताब्दियों में जैनेतर धार्मिक-क्रियाकाण्डों के क्षेत्र में प्रतिष्पद्धारियों से जैनधर्म भी अदूता न रहा और योग, ध्यान, सामायिक, तप आदि आध्यात्मिक ऊर्ध्वाद्वा प्रदान करने वाले तत्त्वों की साधना जीवन में गौण हो गई और बाह्य क्रियाकाण्डों की प्रधानता हो गई। इसीलिए इनकी महत्ता से परिचित कराने के लिए हमारे आचार्यों ने बीच-बीच में स्वयं साधना द्वारा आदर्श उपस्थित करके आगमों के अनुसार तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित पद्धति के अनुसार ग्रन्थों की रचना करके इस साधना को जीवन प्रदान करते रहे।

इसी योग ध्यान साधना का पद्धति का प्रस्तुत महान् ग्रन्थ 'तत्त्वानुशासन' है। ई० सन् की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत भाषा में रचित इस ग्रन्थ में मात्र २५९ श्लोक हैं किन्तु विद्वान् लेखक ने सम्पूर्ण साधना पद्धति के प्रमुख सभी क्रियाओं को सरल भाषा में इस तरह प्रस्तुत किया है भानो 'गागर में सागर' भर दिया हो। यथापि इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। वस्तुतः प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के कत्तूर्ख, रचना-काल आदि के सम्बन्ध में मतभेद कोई नयी बात नहीं है।

अनेक प्राचीन-ग्रामाणिक उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थ-रत्न तो आज भी अशातकतुर्क के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। वस्तुतः अपने स्वानुभव एवं ज्ञान-प्रकाश से तिमिराच्छन्न सहस्रों जीवों की आत्मा को आलोकित करने वाले

मनोषियों के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व आज भी ज्ञात ही हैं क्योंकि उनका उद्देश्य स्वानुभव द्वारा उपांजित ज्ञान का प्रकाश साहित्य के माध्यम से अपनी भाष्यों पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का रहा है, न कि आत्मपरिचय देना, किन्तु उनकी इसी उच्च प्रवृत्ति ने हमें अपना गीरब-शाली इतिहास क्रमबद्ध लिखने में कठिनाई उत्पन्न कर दी है।

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस ग्रन्थ की अपनी विस्तृत प्रस्तावना में काफी विचार-विमर्श करके इसे रामसेनाचार्य की रचना सिद्ध किया तथा नागसेनाचार्य को इनका दीक्षागुरु माना।^१ किन्तु कुछ पाण्डुलिपियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे नागसेनाचार्य की कृति माना। इसकी रचनाकाल ११वीं शती का उत्तरार्ध से लेकर १२वीं शती के पूर्वार्द्ध तक में कोई मतभेद नहीं है।

तत्त्वानुशासन के इस नवीन संस्करण के अनुवादक विद्वान् ने भी इसे नागसेनाचार्य की कृति माना है। जो भी हो मतभेद अपनी जगह हैं किन्तु इस ग्रन्थरत्न की श्रेष्ठता के विषय में सभी एकमत हैं। पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस ग्रन्थ की सरल, प्रांजल और सहज-बोधगम्य भाषा और विषय प्रतिपादन की कुशलता की प्रशंसा करते हुए अपनी प्रस्तावना में लिखा है कि इसके अध्ययन से ऐसा मालूम होता है कि इसमें शब्द ही नहीं बोल रहे, शब्दों के भीतर ग्रन्थकार का हृदय (आत्मा) बोल रहा है और वह प्रतिपाद्य विषय में उनकी स्वतः की अनुभूति को सूचित करता है। स्वानुभूति से अनुप्राणित हुई उनकी काव्यशक्ति अमर ढंगी है और युक्ति पुरस्तर-प्रतिपादन दौली को चार चौड़ लग गए हैं। इसी से यह ग्रन्थ अपने विषय की एक बड़ी ही सुन्दर-व्यवस्थित कृति बन गया है। इसे कहने में तनिक भी अस्युक्ति नहीं है।^२ डॉ० मंगलवेद शास्त्री ने लिखा है कि यह ग्रन्थरत्न अपने विषय का एक अद्वितीय प्रतिपादन है। और निश्चय ही यह अत्यन्त सरल भाषा में लिखा गया है।^३ अनेक परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में तत्त्वानुशासन का अनुकरण किया है तथा इनके पद्धतें को उद्घृत भी किया। पं० आशाघरजी ने तो अग्रवती

१. तत्त्वानुशासन नामक व्यानशास्त्र : सम्पादक एवं भाष्यकार पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'मुगवीर'।

२. तत्त्वानुशासन रामसेनाचार्य प्रणीत, सम्पादक-भाष्यकार-पं० जुगलकिशोर।

३. वही प्रस्तावना पृ० ११।

आराधना पर अपनी मूलाराधना दर्पण टीका (गाथा १७०७) में अनेक पद्म उद्धृत करते हुए इन्हें 'तत्र भवन्तो भगवद्वामसेनपादा'—कहुकर ग्रन्थकार रामसेन के बचनों को भगवान् रामसेन के बचन कहुकर उद्धृत करता उन्हें 'भगवज्जितसेनाचार्य जैसा गौरव प्रदान किया है।'^१ इन सबसे इस ग्रन्थ की तथा ग्रन्थकार की प्रतिष्ठा ज्ञात हो जाती है।

इस महात्म ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि ग्रन्थकर्ता अपने अनेक पूर्वाचार्यों से भी प्रभावित थे। आचार्य अमृतचन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य का आपने गहन अध्ययन अवश्य किया होगा। क्योंकि अमृत-चन्द्राचार्य द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द रचित सुमयसार आदि ग्रन्थों पर लिखी गई टीकाओं और इनके तत्त्वार्थसार का तत्त्वानुशासन पर मात्र गहरा प्रभाव हो नहीं अपितु निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का सन्तुलन और सुमेल इस ग्रन्थ में भी स्पष्ट है।

तत्त्वानुशासन के कठोर इसमें प्रतिपाद्य विषय की दम्भीरता और अपनी लघुता प्रमट करते हुए लिखा है—

अद्यप्यत्यन्त-भूम्भीरमभूमिर्दृशामिदम् ।

प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यान-भक्ति-प्रचोदितः ॥ २५३ ॥

अर्थात् यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रतिपाद्य ध्यान का विषय अत्यन्त गम्भीर है, तो भी ध्यान-भक्ति से प्रेरित हुआ में इसमें प्रवृत्त हुआ है। आगे के पद्मों में कहा है—इस रचना में छद्मस्थ के कारण अर्थ तथा शब्दों के प्रयोग में जो कुछ स्थलन हुआ हो उसके लिए श्रुतदेवता मुझ भक्ति प्रधान (ग्रन्थकर्ता) को क्षमा करें। मेरो मंगलकामनायें हैं कि वस्तुओं के याथारम्य (तत्त्व) का विज्ञान, शब्दान और ध्यानरूप सम्पदायें भव्य-जोड़ों को अपनी स्वरूपोपलब्धि के लिए कारणोभूत होवें।

आध्यात्मिक विद्या का भानीय काव्य :

सहज, सरल और बोधगम्य पद्म हीली में आध्यात्मिक जैसे दुर्लभ विषय को संक्षेप में प्रस्तुत करने वाली कृति को आध्यात्मिककाव्य कहना कोई अस्युक्ति नहीं है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के बाद तो कोई भी सुषी पाठक इसका अनुभव स्वयं कर सकता है। यही तत्त्वानुशासन की विषय-गत प्रमुख विशेषतायें प्रस्तुत हैं—

ग्रन्थकार आचार्य ने मंगलाचरण में धंता के पहचात् सर्वज्ञ की

१. मुकुलार मुम्भीर, प्रकाशक द्वारा सेवामन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली १९६३।

वास्तविक सत्ता तथा हेय-उपादेय तत्त्व बतलाये हैं। बंध और उसके कारणों को हेय तथा मोक्ष एवं उसके कारणों को उपादेय तत्त्व बतलाने के बाद हेय रूप मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र जो कि बंध के कारण हैं—इनका भेद-प्रभेद सहित प्रतिपादन किया गया है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की प्रमुख पात्रता है अहंकार, ममकार का विसर्जन। जबतक ये दोष हैं व्यक्ति अपने आपको कितना ही ऊँचा मानता-समझता हो, उसने इस क्षेत्र की प्रारम्भिक भूमिका में भी कदम नहीं रखा है। अतः प्रत्येक साधक को सर्वप्रथम इन दोषों को पहचानकर इनका त्याग अवश्य करना चाहिए। इसीलिए ग्रन्थकार ने हेय-उपादेय तत्त्व प्रतिपादन के बाद सर्वप्रथम ममकार और अहंकार के लक्षण उदाहरण सहित बतलाये हैं। पूज्यनोया अधिका १०५ स्याद्वादमती माताजी ने इन्हीं लक्षण प्रसंगों में सधा अन्य अनेक स्थलों में छहडाला और बृहदद्रव्यसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थों के सद्विषयक उद्धरण देकर इन विषयों का और भी अच्छा प्रतिपादन किया है।

प्रत्येक साधक की साधना का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति होता है। जैनधर्म में सम्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्षमार्ग कहा है। ग्रन्थकार ने इनका स्वरूप प्रतिपादन करने के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय पर आते हुए कहा है—

स च मुक्तिहेतुरिद्वो ध्याने यस्मादवाप्यसे द्विविधोऽपि ।

तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधिथः सदाऽप्यपास्थाऽऽलस्यस् ॥ ३३ ॥

अर्थात् ‘चूंकि निश्चय और व्यवहार रूप दोनों प्रकार का निर्दोष मुक्ति हेतु मोक्षमार्ग ध्यान की साधना में प्राप्त होता है। अतः हे सुधीजनो! आलस्य का त्याग करके सतत् ध्यान का अभ्यास करो। ध्यान के चार भेदों में ग्रन्थकार ने आर्त और रौद्र ध्यान को कुछ अनियन्त्रित एवं त्याज्य तथा अर्थ्य एवं शुक्लध्यान को सदृध्यान तथा इन्हें उपादेय बतलाते हुए इनका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध महर्षि पतञ्जलि के योग-दर्शन में वर्णित यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-रूप अष्टाङ्गयोग सम्बन्धी मान्यता से हटकर तत्त्वानुदासनकार ने अष्टाङ्गयोग की नवीन परम्परा का सूत्रपात करके योग साधना के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अष्टांगयोग इस तरह बतलाये गये हैं—

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं यस्य यत्र यदा यथा ।

इत्येतदत्र बोहद्वद्यं ध्यातुकामेन योगिना ॥ ३७ ॥

१. ध्याता—इन्द्रिय और मन का नियम ह करके ध्यान करने वाला,
 २. ध्यान—एकाग्र चित्तन रूप किया, ३. ध्यान का फल—निर्जरा और
 संवर, ४. ध्येय—यथावस्थित वस्तु अर्थात् ध्यान योग्य पदार्थ, ५. यस्य—
 जिस पदार्थ का ध्यान करना है, ६. यत्र—जहाँ ध्यान करना है,
 ७. यदा—जिस समय ध्यान करना है वह काल विशेष तथा, ८. यथा—
 जिस रीति से ध्यान करना है। इनमें अन्तिम चार अंग क्रमशः द्रव्य,
 क्षेत्र, काल और भाव के सूचक हैं। ग्रन्थकार ने कहा भी है कि जिस देश,
 काल तथा अवस्था (आसन-मुद्रा आदि) में ध्यान की निर्विघ्नसिद्धि
 होती है, वही ध्यान के लिए याहाँ क्षेत्र, काल तथा अवस्था है। (एकोक
 ३९) आगे ग्रन्थकार ने इन अंगों का सांगोषांग विवेचन किया है, जिनमें
 ध्यान सम्बन्धी अनेक विषयों का समावेश किया गया है।

ग्रन्थकार ने आगे ध्यान को एकाग्र और ज्ञान को व्यग्र (विविध मुखों
 अथवा आलम्बनों को लिए हुए) बतलाते हुए कहा है कि व्यग्रता की
 विनिवृत्ति के लिए ही ध्यान के लक्षण में 'एकाग्र' का ग्रहण किया है—

एकाग्र-यहर्ण चाऽत्र वैयप्रय विनिवृत्ये ।

व्यग्रं हि ज्ञानमेव स्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

ध्यान साधना में मन की चंचलता का निरोध परम आवश्यक होता
 है, बिना मन की जीते साधना को कोई भी किया व्यर्थ होता है। अतः
 मन को जीतने के लिए ग्रन्थकार ने महत्वपूर्ण उपाय बतलाते हुए
 कहा है—

संचिन्तयनुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।

जग्यत्येव मनः साधुरिन्द्रियाऽर्थ-पराङ्मुखः ॥ ७२ ॥

अर्थात् जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओं (अनित्य, अशरण आदि बाहर
 आवनाओं) का अच्छी तरह चिन्तन करता है, स्वाध्याय में उच्चमी और
 इन्द्रिय-विषयों से प्रायः मुख मोड़े रहता है वह अवश्य ही मन को
 जीतता है।

आगे ग्रन्थकार स्वाध्याय की महत्ता बतलाते हुए कहा है कि
 स्वाध्याय से ध्यान को अभ्यास में लाके और ध्यान से स्वाध्याय को
 अरिताथी करे। ध्यान और स्वाध्याय दोनों की सम्पत्ति-सम्प्राप्ति से

परमात्मा प्रकाशित होता है। आगे ग्रन्थकार ने इयान के भेद-भ्रमोदों एवं अटीगयोग का विस्तृत विवेचन किया है। आत्मा के ध्येय की ही प्रमुखता क्यों दी जाती है? ऐसा प्रश्न करने वालों को समझाते हुए आचार्य कहते हैं—

गति हि ज्ञात्वा त्वेषं व्येगहां पतिपथते ।
ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः समृतः ॥ ११८ ॥

अर्थात् ज्ञाता होने पर ही ज्ञेय ध्येयता को प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानस्वरूप यहु आत्मा ही ध्येयतम् (सर्वाधिकध्येय) है।

इस प्रकार इयान का सांगोपाङ्क विवेचन वाला सम्प्रदाय निरपेक्ष एक महान् ग्रन्थ है। वस्तुतः अध्यात्म कभी किसी सम्प्रदाय का विषय नहीं हो सकता। इसे तो व्यक्ति अपनी परम्पराओं से जोड़ लेता है। किन्तु वास्तव में यहु तो आत्मोक्षण का वह सार्वभौमिक और शाश्वत मार्ग है जिसमें सभी जीव समाव से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करता है और अन्ततः उसे प्राप्त कर लेता है। अन्य मंगल में आचार्य ने जिस प्रकार सभी की झूपूर्व मंगल कामना अपने ग्रन्थ के अन्त में की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है—

देहज्योतिषि यस्य मञ्जति जगद् दुरधाम्बुराक्षाविव,
ज्ञान ज्योतिष च स्फुटायतितरामो भूर्भुवः स्वस्त्रयी ।
शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थित्वकासन्त्यमी,
स श्रीमान्मराचितो जिनपतिज्योतिस्त्रयायाऽस्तुः नः ॥ २५९ ॥

अर्थात् जिसकी देह-ज्योति में जगत् ऐसे ढूका रहता है जैसे कोई क्षीरसागर में स्नान कर रहा हो; जिसको ज्ञान-ज्योति में भूः, भुवः और स्वः अर्थात् क्रमशः अथो, मध्य और स्वर्गलोक की श्रद्धी अस्त्यन्त स्पष्ट प्रकाशमान हो रही है, दर्पण के समान जिनकी शब्द ज्योति (वाणी के प्रकाश) में स्व-पर रूप सभी पदार्थ झलक रहे हैं, जो अन्तरंग और बहिरंग लक्षणी से युक्त और देखों द्वारा बन्दनीय हैं—ऐसे जिनेन्द्रदेव हम-लोगों को देहज्योति, ज्ञानज्योति और शब्दज्योति रूप ज्योतित्रय प्रदान करने वाले बनें।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण में अनुवादक विद्वान् डॉ० श्रेयांसकुमार जैन ने जहाँ अपनी प्रतिभा-कौशल का अच्छा परिचय दिया है वहीं पूछ्य १०५ उपाध्याय भरतसागरजी महाराज ने ध्यान-योग तथा साधना से

सम्बन्धित अनेक प्राचीन अवाचीन उद्घरण तथा लद्विषयक चक्र, चित्र-आदि का इस ग्रन्थ में संयोजन करके संपादन किया है।

प्रभावक आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज, ज्ञानयोगी पूज्य उपाध्याय भरतसागरजी एवं पूज्य आर्यिका स्याद्वादमती माताजी ने अति उत्कृष्ट एवं दुर्लभ अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना की साकार करके वह उत्कृष्ट कार्य कर रहे हैं उससे वर्तमान पीढ़ी और आने वाली पीढ़ी दीर्घकाल तक कृतज्ञ रहेगी। इस कार्य के लिए समाज चिरकाल तक इस श्रमण संघ की आभारी रहेगी। इस निमित्त अनुबादक, ट्रेटर, प्रकाशक एवं अन्य सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार में सहयोगी सभी और पं० ब्र० धर्मचन्द्रजी तथा परमविदुषी ब्र० प्रभा पाठनी जी आदि साधुकाद के पात्र हैं। आशा है भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् आगे भी जैन साहित्य और संस्कृति की सेवा के महान् कार्य करते हुए इनके संरक्षण हेतु प्रयत्नशाल रहेगी।

१५ अगस्त, १९५३

अनेकान्त भवनम्

वाराणसी



विषय-सूची

१. भैरवलाचरण	...	१
२. सर्वज्ञ की वास्तविक सत्ता	...	२
३. हेय एवं उपादेय श्रिविधि तत्त्व	...	२
४. बन्ध एवं उसके कारण हेय	...	३
५. मोक्ष एवं उसके कारण उपादेय	...	४
६. बन्ध का स्वरूप और उसके भेद	...	५
७. बन्ध का कार्य संसार	...	६
८. मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र बन्ध के कारण	...	७
९. मिथ्यादर्शन का स्वरूप	...	८
१०. मिथ्याज्ञान का स्वरूप और तीन भेद	...	९
११. मिथ्याचारित्र का स्वरूप	...	९
१२. बंध का प्रमुख कारण मिथ्यादर्शन	...	१०
१३. मिथ्याज्ञान प्रक्षी एवं भगवान् अहंकार समाप्ति	...	१०
१४. ममकार का लक्षण	...	११
१५. अहंकार का लक्षण	...	१२
१६. मोह का धेरा	...	१३
१७. बैध के कारणों का विवाद	...	१७
१८. बन्ध कारणों के अभाव में मोक्ष	...	१८
१९. मुक्ति के कारण	...	१९
२०. सम्परदर्शन का स्वरूप	...	२०
२१. सम्पर्ज्ञान का स्वरूप	...	२१
२२. सम्यक्चारित्र का स्वरूप	...	२१
२३. मोक्ष हेतु में साध्यसाधनता	...	२२
२४. निश्चयनय व व्यवहारनय	...	२३
२५. व्यवहार मोक्षमार्ग	...	२४
२६. निश्चय मोक्षमार्ग	...	२५
२७. ध्यान के अभ्यास का उपदेश	...	२६
२८. धर्म व शुद्धि सदृष्ट्यान	...	२७

२९. शुकलध्यान के स्वामी	२८
३०. धर्मध्यान के कथन को प्रतिशा	२९
३१. योगी की ध्यातव्य बातें	२९
३२. ध्याता ध्येय ध्यान व ध्यान का फल	३०
३३. देश-काल-अवस्था-रीति	३०
३४. उक्त आठ प्रकार से ध्यान के वर्णन की प्रतिशा	३१
३५. ध्याता का स्वरूप	३२
३६. गुणस्थान की अपेक्षा धर्मध्यान के स्वामी	३३
३७. धर्मध्यान के भेद	३४
३८. सामग्रो के भेद से ध्याता व ध्यान के भेद	३४
३९. उत्तम-मध्यम-जघन्य ध्यान	३५
४०. अल्पश्रुतज्ञानी भी धर्मध्यान का धारक	३६
४१. धर्मध्यान का प्रथम लक्षण	३६
४२. धर्मध्यान का द्वितीय लक्षण	३७
४३. धर्म लक्षण	३८
४४. धर्मध्यान का लक्षण	३८
४५. धर्मध्यान का चतुर्थ लक्षण	३९
४६. ध्यान संवर व निर्जरा का हेतु	३९
४७. एकाग्र चिन्तारोध पद का अर्थ	४०
४८. ध्यान का लक्षण	४०
४९. व्यग्रता अज्ञान और एकाग्रता ध्यान	४१
५०. प्रसंख्यान, समाधि और ध्यान की एकता	४१
५१. आत्मा को अप्र कहने का कारण	४२
५२. चिन्ताओं के अभावस्तु ध्यान और ज्ञानमय आगमा एक ही	४२
५३. ध्यान व ध्यान का फल	४२
५४. व्याकरणशास्त्र से ध्यान का अर्थ	४३
५५. धूरज्ञानस्तु स्थिर मन ही वास्तविक ध्यान	४३
५६. ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता	४३
५७. प्रव्यायिकतय की अपेक्षा ध्याता और ध्यान की अभिन्नता	४४
५८. कर्म और ध्यायकरण दोनों ध्यान	४४
५९. सन्तानवर्तिनी स्थिर बुद्धि ध्यान	४५

६०. षट्कारकमयी आत्मा का नाम ही ध्यान है	४५
६१. ध्यान की सामग्री	४६
६२. मन को जीत लेने पर इन्द्रियों की विजय	४६
६३. ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों की विजय	४७
६४. चंचल मन का नियन्त्रण	४८
६५. मन को जोतने के उपाय	४९
६६. पञ्चवनमस्कार मंत्र जाप एवं शास्त्रों का पठन- पाठन स्वाध्याय	५०
६७. ध्यान और स्वाध्याय से परमात्मा का ज्ञान	५१
६८. पञ्चमकाल में ध्यान न मानने वाले अज्ञानी	५२
७०. पञ्चमकाल में शुक्लध्यान का निषेध थ्रीणी के पूर्व धर्मध्यान का कथन	५२
७१. वज्रवृषभलाराचसंहननी के ही ध्यान का कथन शुक्लध्यान को अपेक्षा से	५३
७२. शक्त्यनुसार धर्मध्यान करणीय	५४
७३. शक्त्यनुसार सप धारणीय	५५
७४. गुरुपदेश से ध्यानाभ्यास	५६
७५. अभ्यास से ध्यान की स्थिरता	५६
७६. परिकर्म के आश्रय से ध्यानकरणीय	५६
७७. ध्यान करने योग्य स्थान-काल विधि व पदार्थ	५७
७८. निश्चय व व्यवहार ध्यान	५८
७९. निश्चय ध्यान आत्मा से अभिन्न और व्यवहार ध्यान भिन्न	५८
८०. ध्येय के भेद	५९
८१. ध्येय के भेदों का स्वरूप	६०
८२. नामध्येय का स्वरूप	७७
८३. असिआउसा का ध्यान	७७
८४. जह इ उ ए श्रो मंत्रों का ध्यान	७७
८५. सप्ताक्षरों का ध्यान	७८
८६. अरहंत नाम का ध्यान	७९
८७. अ से ह पर्यन्त अक्षरों का ध्यान	८०
८८. स्थापना ध्येय का स्वरूप	८१
८९. इव्य नामक ध्येय का स्वरूप	८१

९०. भाव ध्येय का स्वरूप	८९
९१. बहुविध द्रव्यों में जीव द्रव्य उलम ध्यान करने योग्य है	८८
९२. जीव की उत्तम ध्येयता का कारण	८८
९३. ध्येय सिद्धों का स्वरूप	९३
९४. ध्येय अरहन्तों का स्वरूप	९४
९५. अरहन्तदेव के ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति	९७
९६. ध्येय आचार्य उपाध्याय साधु का स्वरूप	९८
९७. ध्येय पदार्थ चतुर्विध अथवा अन्यायेका द्विविध	१००
९८. भाव ध्येय	१००
९९. ध्यान में ध्येय की स्फुटता	१०२
१००. पिण्डस्थ ध्येय का स्वरूप	१०३
१०१. ध्याता ही परमात्मा	१०३
१०२. सब ध्येय माध्यस्थ	१०३
१०३. माध्यस्थ के पर्यायवाची नाम	१०३
१०४. परमेष्ठियों के ध्यान से सब ध्यान सिद्ध	१०३
१०५. निहचयनय की अपेक्षा स्वावलंबन ध्यान के कथन की प्रतिशा	१०४
१०६. स्व को जानेदेखे-अद्वा करो	१०५
१०७. डरो मत श्रुतज्ञान की भावना करो	१०७
१०८. आत्मभावना करो	१०८
१०९. आत्मभावना कैसे करें ?	१०८
११०. चिन्ता का अभाव तुच्छ भाव नहीं अपितु स्वसंवेदन रूप	११२
१११. स्वसंवेदन का स्वरूप	११३
११२. स्वसंवेदन की ज्ञप्तिरूपता	११३
११३. शून्याशून्य स्वभाव आत्मा की आत्मा के द्वारा प्राप्ति	११६
११४. स्वात्मा ही नेरात्माद्वेष दर्शन	११७
११५. स्वात्मा ही नेरात्मा दर्शन	११७
११६. नेरात्मा दर्शन	११८
११७. हैताद्वेष दृष्टि	११८
११८. आत्मदर्शन का फल	११८

११९. वर्ष्यशुक्लध्यानों में भेदामेद	११९
१२०. स्वात्मदर्शन अति दुर्साध्य	१२०
१२१. (१) पार्थिव धारणा	१२१
१२२. (२) आग्नेयी धारणा	१२१
१२३. (३) मारुती धारणा	१२२
१२४. (४) वाहणी धारणा	१२३
१२५. (५) तत्त्वरूपवती धारणा	१२३
१२६. एक शंका	१२३
१२७. शंका का समाधान	१२३
१२८. दूसरी तरह से समाधान	१२४
१२९. ध्यान का फल	१२५
१३०. मुक्तात्माओं की लोकाग्र में स्थिति	१३३
१३१. मुक्त होने पर संकोच विस्तार नहीं	१३४
१३२. मुक्त जीवों का अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार	१३५
१३३. मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं	१३५
१३४. जीव का स्वभाव स्वन्पर प्रकाशक	१३६
१३५. मुक्तात्मा स्वस्वभाव में स्थित	१३७
१३६. शिकाल शिलोक के जाता होकर भी उदासीन	१३७
१३७. सिद्धों को अनन्तमुख	१३८
१३८. सिद्धमुख विषय एक शंका	१३८
१३९. समाधान	१३९
१४०. मोक्ष हो उत्तम पुरुषार्थ	१४०
१४१. एकांतवादियों के बंध और मोक्ष नहीं	१४१
१४२. ग्रंथकार की लघुता	१४२
१४३. ग्रंथकार की क्षमा याचना	१४२
१४४. ग्रंथकार की मंगलकामना	१४३
१४५. श्लोकानुक्रमणिका	१४७



ओ बीतरागाय नमः

श्रीमन्नागसेन मुनि विरचितम्

तत्त्वानुशासनम्

मंगलाचरण

सिद्धस्वार्थनिशेषार्थस्वरूपस्योपदेशकान् ।

परापरगुरुन्तत्वा वक्त्ये तत्त्वानुशासनम् ॥ १ ॥

अर्थ— कर्म-मल-रहित, शुद्ध, आत्मस्वरूप रूप स्वार्थ को जिन्होंने प्राप्त कर लिया है तथा सम्पूर्ण पदार्थों के स्वरूप का जिनने उपदेश दिया है, ऐसे जो पर तथा अपर गुरुबूद्ध हैं, उनको नमन कर मैं (नागसेन मुनि) तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ को कहता हूँ ॥ १ ॥

(१) इस कारिका में श्री नागसेन मुनि ने सर्व प्रथम गुरुओं के प्रणाम करके तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ को प्रस्तुत करने की प्रतिज्ञा की है। गुरुओं के दो विशेषण हैं—सिद्धस्वार्थ एवं अशेषार्थोपदेशक। सिद्धस्वार्थ से शुद्ध आत्मा के अनुभव करने वालों तथा अशेषार्थोपदेशक से सर्वतत्त्वज्ञों की ओर संकेत है। परापर गुरु कहने से प्राचीन एवं अवाचीन परम्परागत सभी गुरुओं के प्रति श्रद्धा की अभिभ्यक्ति की गई है।

(२) सिद्धार्थ सिद्धसम्बन्धं ओतुं ओता प्रवर्तते ।

शोस्त्रादी तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

इस तियम के अनुसार शास्त्र के प्रारम्भ में अनुवन्ध चतुष्टय का उल्लेख आवश्यक माना गया है। प्रकृत ग्रन्थ में तत्त्वानुशासन अधिधेय है, ग्रन्थ और अधिधेय का वाच्यवाचक सम्बन्ध है, शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति प्रयोजन है और मुमुक्षु इस ग्रन्थ का अधिकारी है।

(३) भावसहित नमस्कार करने से नमस्कारार्ह के गुणों की उपलब्धि होती है तथा भावों की शुद्धि हो जाती है। पूज्य के पुण्यगुणों की स्मृति से चित्त निष्पाप हो जाता है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

त पूज्यार्थस्त्वयि बीतरागे त नित्या नाथ । विवान्तवैरे ।

तवापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्भुनातु चित्तं दुरिताम्बनेभ्यः ॥

सर्वज्ञ की वास्तविक सत्ता ॥ १ ॥

अस्ति वास्तवसर्वज्ञः सर्वगीर्वणिवन्दितः ।

घातिकर्मक्षयोऽभूतस्पष्टरनन्तचतुष्टयः ॥ २ ॥

अर्थ— ज्ञानावरणी आदि चार घातिका कर्मों के नाश से स्पष्टरूपेण जिसे अनन्त चतुष्टयों की उद्भूति (प्रगटता) हो गई है तथा जो इन्द्र आदि मम्पुण देवताओं द्वारा बन्दनोदय है, ऐसा कहिना नहीं, अपिनु वास्तविक सर्वज्ञ पाया जाता है ॥ २ ॥

विशेष—(१) यतः दुरवर्ती, सूक्ष्म एवं व्यवहित पदार्थों का कथन सर्वज्ञ के बिना सम्भव नहीं है, इसलिए इन्द्रजात्रे लहुँ गर्वज्ञत्व एवं उसके कारण तथा तज्जन्य कार्य का कथन किया है। घातिकर्मों का नाश सर्वज्ञत्व का हेतु तथा अनन्तचतुष्टय का प्रकटनकरण सर्वज्ञत्व का कार्य है।

(२) अष्टविध कर्मों में ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनाय और अन्तराय ये चार घातिकर्म हैं। आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करने के कारण इन्हें घातिकर्म कहा गया है। इनके अभाव के बिना सर्वज्ञता संभव नहीं है तथा इनके अभाव हो जाने पर सर्वज्ञता तल्काल अदृश्यभावो है।

(३) सर्वज्ञता प्राप्ति के साथ ही जीव को अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य एवं अनन्त मुख की प्राप्ति हो जाती है। अनन्तचतुष्टय में अनन्त शब्द असीमितता एवं सर्वोत्कृष्टता का सूचक है।

(४) 'सर्वगीर्वणिवन्दितः' कहने से सर्वज्ञ की इन्द्रादि सभी देवताओं द्वारा पूज्यता का कथन अभीष्ट है।

हेय एवं उपादेय त्रिविष्ट तत्त्व

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशम्भौ ।

तत्त्वं हेयम् यादेयमिति त्रैघातभ्यधीदसौ ॥ ३ ॥

अर्थ— जन्म, जरा, मरण रूप तीन संताप से संतप्त भव्य जीवों की मोक्ष-रूप सुख की प्राप्ति के लिए, उन सर्वज्ञ देव ने हेय अर्थात् छोड़ने योग्य और उपादेय अर्थात् अपनाने योग्य, रूप दो प्रकार के तत्त्वों का उपदेश दिया ॥ ३ ॥

विशेष—(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदेविक इन तीन प्रकार के तत्त्वों से संसारी प्राणी संतप्त है। आध्यात्मिक दुःख शारोरिक

एवं मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है। भनुष्य, पशु-पश्ची, सरीसूप, विषवृक्ष आदि प्राणियों से होने वाला संताप आधिभौतिक तथा वैवयोनि विशेष एवं प्रहावेश आदि से होने वाला संताप आधिदैविक कहलाता है। शारीरिक एवं मानसिक भन्ताप की एक मानकर यहाँ ताप की त्रिविधता ही गई है।

(२) (जिम आत्मा में रत्नत्रय के प्रकट होने की एवं एतावता मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता पाई जाती हो, उसे भव्य कहते हैं।)

(३) हेय का अर्थ है छोड़ने योग्य और उपादेय का अर्थ है ग्रहण करने योग्य। परमार्थ की दृष्टि से बन्ध को हेय और मुक्ति को उपादेय माना गया है। शास्त्र का वास्तविक उददेश्य हेय और उपादेय का विवेक है। अन्नचूडामणि में वादोभसिहसूरि ने कहा है—

हेयोपादेयविज्ञानं तो चेद्वयर्थः श्रमः श्रुतो ।

कि श्रीहित्याङ्कनायासैस्तण्डुलानाम्रसंभवे ॥ २।४४

अर्थात् हेय एवं उपादेय का यदि विशेष ज्ञान नहीं है तो शास्त्र में परिश्रम करना निरर्थक है। चावलों के न रहने पर खान्य कूटने के परिश्रम का बया लाभ है?

इसी कारण पन्थकार ने हेयोपादेय द्विविध तत्त्व का उपदेश सर्वज्ञ द्वारा कथित एवं भव्य जीवों के लिए त्रिविध ताप को नष्ट करके नोक्ता को प्रदान करने वाला कहा है।

बन्ध एवं उसके कारण हेय

बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपर्दर्शितम् ।

हेयं स्पावदुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिवं हृष्यम् ॥ ४ ॥

अर्थ—बन्ध और इसके कारण का हेय कहा गया है। क्योंकि ये दोनों सुख एवं दुःख के बीज (मूल कारण) हैं, इसलिए हेय हैं ॥ ४ ॥

विशेष—(१) आग्न के अनुसार २३ प्रकार की पुद्गल वर्गणाओं से सम्पूर्ण लोक परिपूर्ण है। जीव जब कषाय से युक्त होता है तथा योग के द्वारा हृलन-चलन करता है तो वह सभी ओर से कर्मयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। इसे ही बन्ध कहते हैं। कहा भी है—

‘सक्यायत्वाऽजोऽः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।

(२) मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। मिथ्यादर्शन अगृहीत एवं गृहीत दो प्रकार का है। गृहीत मिथ्यादर्शन के एकान्त, बिपरीत, संशय, वैत्यकिक और अज्ञान ये पाँच भेद होते हैं। षट्काय जीवों की हिसा एवं ५ इन्द्रिय और मन के विषयों में आसन्नित रूप अविरति १२ प्रकार की होती है। कषायों के उदय में कलंब्य के प्रति अनादर भाव को प्रमाद कहते हैं। अनन्तानुबंधी आदि क्रांधादि चतुष्क एवं नौ नोकपाय ये २५ कषायें कही गई हैं, व्योकि ये आत्मा को दुःख देती हैं। योग आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन है, जो मन-व्यचन-काय के निमित्त से होता है।

(३) परमार्थ में सुख एवं दुःख दोनों ही प्रकार के बन्ध संसरण के निमित्त हैं। अतः उन्हें और उनके कारणों को हेय कहा गया है।

सुख किसे कहते हैं? (१) स्वभावप्रतिकूल्याभावहेतुकं सौख्यं (प०का०) स्वभाव के प्रतिकूल विभाव यहाँ जा नाश होते हैं प्राप्त आनन्द का शान्तरस सुख है। (२) अनाकुलत्वेक लक्षणं सौख्यम् (प० भा०) सुख का लक्षण अनाकुलता है। (३) 'स्वभाव प्रतिधाताभावहेतुकं हि सौख्यम्'—स्वभाव प्रतिधात का अभाव सो सुख है। (४) "तत्सुखं यथनासुखम्" सुख वही है जहाँ दुख नहीं है। (आ० शा०)

दुख—(१) "पीड़ा लक्षण परिणामो दुख" —पीड़ारूप आत्मा का परिणाम दुख है (स० मि०)। (२) अणिदृश्य समागमोऽदृश्यवियोगो च दुखं गाम—अनिष्ट अर्थ के समागम और इष्ट अर्थ के विद्योग का नाम दुख है। (घ०१३)

मोक्ष एवं उसके कारण उपादेय

मोक्षस्तत्कारणं चैतत्पुपादेयमुदाहृतम् ।

उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥

अर्थ—मोक्ष और उसके कारण इस जीव के लिए ग्रहण करने योग्य हैं ऐसा उस सर्वज्ञ देव के द्वारा कहा गया है। चूंकि इनसे (मोक्ष तथा उसके कारण) आत्मीक सुख प्रगट होता है उसकी अनुभूति होती है अतः ये उपादेय हैं ॥ ५ ॥

शिवोष—(१) मिथ्यादर्शन आदि बन्ध के हेतुओं का अभाव हो जाने से जब नये कर्मों का बन्ध रुक जाता है तथा तप आदि के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जना हो जाती है। तब आत्मा सभी कर्मबन्धनों से मुक्त हो

जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान और सम्यकचारित्र ये तीनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

सम्यगदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । —तत्त्वार्थसूत्र १/१

पण्डित प्रबर दीलतरामजी ने मोक्षमार्ग में रुत होने की प्रेरणा देते हुए कहा है—

आत्म को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये ।

आकुलता शिवमाहि न ताँ शिवमग लाग्यी चहिये ॥

सम्यगदर्शन ज्ञान चरण शिव मग सो दुविध विचारी ।

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो ॥

—छहठाला ४/१

(२) योगसूत्रभाष्य की निम्नलिखित पंक्तियों में तत्त्वानुशासन के चतुर्थ एवं पञ्चम श्लोकों के भावों को ही प्रकारान्तर से अभिव्यक्त किया गया है—

“यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्भूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति,
एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्भूहमेतत् । तद्यथा—संसारः संसारहेतुमोक्षो
मोक्षोपाय इति ।” —दीलदूतसाम्ब ३/१

बन्ध का स्वरूप और उसके भेद

तत्र बन्धः स हेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परम् ।

जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धशब्दतुविधः ॥ ६ ॥

अर्थ—उनमें (हेतुपादेय तत्त्वों में) से मिथ्यादर्शनादिक कारणों के द्वारा जो जीव और कर्मों के प्रदेशों का आपस में संश्लेष (मिल जाना) हो जाना है सो बन्ध है। वह चार भेद (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश) वाला है ॥ ६ ॥

विशेष—(१) अपने कारणों के माध्यम से जहाँ पर जीव एवं कर्मों के प्रदेश आपस में मिल जाते हैं, उसे ही बन्ध कहते हैं। नयचक्र में कहा गया है— ‘कर्मादपदेशाणं अणोणपवेसणं कसायादो ।’—नयचक्र १५/१

राजवातिक में बन्ध का शाब्दिक व्याख्यान करते हुए कहा गया है कि जो बैधे या जिसके द्वारा बैधा जाय अथवा बन्धनमात्र को बन्ध कहते हैं— ‘बध्नाति, बध्यतेऽसी, बध्यतेऽनेन बन्धमात्रं वा बन्धः ।’

—राजवातिक ५/२४

(२) बन्ध के बार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। प्रकृतिबन्ध के आठ भेद कहे गये हैं—शानावरण, इर्दगःबृण, लेदलोद, भेदहृनीय, बायु, नाम, गोत्र, अन्तराय। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्मों की स्थिति तीस कोटाकोटि सागर, मोहनोग की सत्तर कोटा-कोटि सागर, नाम एवं गोत्र कर्मों की बीस कोटाकोटि सागर तथा बायु कर्म की तैतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति मानी गई है। कर्मों की स्थिति का वर्णन ही स्थितिबन्ध के अन्तर्गत आता है। अनुभाग का अर्थ कर्मों को फलदान शक्ति है। कर्मों में जो तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड़ती है उसे अनुभाग बन्ध कहते हैं तथा ज्ञानावरण आदि कर्म रूप पुद्गाल स्कन्धों के परमाणुओं की संख्या को प्रदेशबन्ध कहते हैं।

प्रकृतिबन्ध एवं प्रदेशबन्ध योगजन्य हैं तथा स्थिति एवं अनुभाग-बन्ध कथायजन्य हैं। योग एवं कथाय की तीव्रता मन्दता से बन्धों में अन्तर हो जाता है।

बन्ध का कार्य संसार

बन्धस्य कार्यः संसारः सर्वदुःखप्रदोऽस्त्रिनाम् ।

द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविधिः स्मृतः ॥ ७ ॥

बन्ध—प्राणियों को सभी प्रकार के दुःखों को देने वाला संसार बन्ध का कार्य है। वह संसार द्रव्य, क्षेत्र आदि भेद से अनेक प्रकार का कहा गया है ॥ ७ ॥

विजेष— १) संसार का परिभ्रमण बन्ध का कार्य है। मिथ्यात्व आदि के कारण जब कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाह हो जाते हैं तब कर्मबद्ध आत्मा परतन्त्र होकर उसी प्रकार अपना इष्ट नहीं कर पाता है तथा भवभ्रमण करता हुआ शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को भोगता है, जिस प्रकार देढ़ी आदि से बद्ध व्यक्ति पराघोन होकर इच्छानुसार अभीष्ट स्थान में अमण नहीं कर पाता है एवं शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को भोगता है। यस्तुतः संसार बन्ध का कार्य है।

(२) त्यागने योग्य परमदार्थ के ग्रहण करने को बन्ध कहते हैं। अभृत-चन्द्राचायं तत्त्वार्थसार में कहते हैं—

‘हैयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तिः ।’

जीवतत्त्व निश्चय से तो द्रव्यहृप पुढ़ है किन्तु कर्मबन्ध की अपेक्षा असूँद है। अशूँद अवस्था में हो चकुर्गति में परिभ्रमण होता है। अतएव शूँद दशा प्राप्त करना हमारा लक्ष्य होना चाहिये। किन्तु शूँद दशा की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तक जीव वीतराग भावों को प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि यह जीव अपने ही रागादि भावों में बन्धन को प्राप्त होता है और तज्जन्म संसार में सभी प्रकार के दुःख भोग्ना रहता है।

मिथ्यादर्शानन्दज्ञानचारित्र बन्ध के कारण

स्युमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समाप्तः ।

बन्धस्थ हेतुवोऽन्यस्तु त्रयाजामेव विस्तरः ॥ ८ ॥

अर्थ—संक्षेप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र ये तीन ही बन्ध के कारण हैं। अविराजन आदि अन्य बन्ध के कारण तो इन्हीं के विस्तार हैं, अथवा इन्हीं के भेद-प्रभेद हैं ॥ ८ ॥

विशेष—(१) सम्यदर्शन, सम्यज्ञान और सम्यक्चारित्र के विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं। सम्यदर्शन आदि मोक्ष के मार्ग होने से धर्म पहुँच गये हैं तथा मिथ्यादर्शन आदि संसार बद्धानं वाले होने से बन्ध के कारण कहे गये हैं। जिस प्रकार सम्यदर्शन आदि के उत्तर, उत्तरोत्तर अनेक भेद होते हैं, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि के भी समझना चाहिये। मिथ्यादर्शनादि तीनों का सद्भाव एक साथ पाया जाता है। क्योंकि यदि मिथ्यात्म प्रकृति का उदय है तो उसका ज्ञान और चारित्र भी नियम से मिथ्या ही होता है। रत्नकरण्डधावकाचार में समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मोऽवरा विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ९ ॥

इसका भावार्थ लिखते हुए पं० सदासुखदास जो ने कहा है—“जो आपका अर अन्य द्रव्यानि का सत्यार्थ श्रद्धान्, ज्ञान, आचरण सा तो संसार परिभ्रमणात् सुडाय उत्तम मुखमें धारण करने वाला धर्म है। अर आपका अर अन्य द्रव्यानि का असत्यार्थ श्रद्धान्, ज्ञान, आचरण नसार के घोर अनंत दुःखनिमें ढुकोवने वाले हैं, ऐसे भगवान् वीतराग कहें हैं।”

(२) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र को समन्वित संज्ञा मिथ्यात्म है, कौपीच प्रकार का होता है—

- (क) अनेक स्वभावात्मक वस्तु को एक स्वभाव मानना एकात्म-मिथ्यात्म है।
- (ख) अधर्म में धर्मरूप श्रद्धान का होना विपरीत मिथ्यात्म है।
- (ग) प्रत्येक रागी-ब्रीतरागी देवादि की विनय करना विनय मिथ्यात्म है।
- (घ) तत्त्वों के स्वरूप में सन्देह बना रहना संशय मिथ्यात्म है।
- (ङ) मूढभाव से तत्त्वज्ञान का उद्यम न करना अज्ञात मिथ्यात्म है।

मिथ्यादर्शन का स्वरूप

अन्यथादस्थितेऽद्यर्थेऽद्वन्यथैव रुचिनृणाम् ।

बुद्धिभोहोदयान्मोहो मिथ्यादर्शनमुच्यते ॥ ९ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से भिन्न प्रकार से विद्यमान पदार्थों में मनुष्यों की विपरीत रुचि या श्रद्धा को मोह अथवा मिथ्यादर्शन कहते हैं ॥ ९ ॥

विवेष—(१) जैसा पदार्थ का यथार्थ स्वरूप है, उसे वैसा न मानना और जैसा पदार्थ का वास्तविक स्वरूप नहीं है, उसे वैसा मानना मिथ्यादर्शन कहलाता है। प्राणी को यह विपरीत रुचि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होती है। सच्चे देव-शास्त्र-गुह एवं सच्चे धर्म में दोष लगाने के कारण दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है। यह दर्शनमोहनीय हो अनन्त संसार का कारण है।

दर्शनमोहनीय के आश्रय के कारण—

केवलिश्चुतसंघदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥

केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय के आश्रय का कारण है।

अवर्णवाद—गुणवानों को छूठे दोष लगाना सो अवर्णवाद है।

केवली अवर्णवाद—केवली ग्रासाहार करके जीवित रहते हैं, इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है।

श्रुत का अवर्णवाद—ज्ञास्त्र में पांच भज्ञन करना लिखा है ऐसा कहना श्रुत का अवर्णवाद है।

संघ का अवर्णवाद—साधु संघ को देखकर ये शूद्र हैं, मलिन हैं, नगन हैं इत्यादि कहना सो संघ का अवर्णवाद है।

धर्म का अवर्णवाद—जितेन्द्र कथित धर्म व्यर्थ है, इसमें कोई गुण नहीं है, इसके सेवन करने वाले असुर होवेंगे इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है।

देव का अवर्णवाद—देव मदिरा पीते हैं, मांस खाते हैं, जीवों की बलि से प्रसन्न होते हैं आदि कहना सो देव का अवर्णवाद है।

—(तत्त्वार्थसूत्र ४।१३)

इनके साथ ही—“मार्गसंदृष्टयं चेव तथैवोन्मागदेशनम्” सत्य मोक्ष-मार्ग को दृष्टित ठहराना और असत्य मार्ग को सच्चा मोक्षमार्ग कहना ये भी दर्शनमाहनीय के आल्पव के कारण हैं। —तत्त्वार्थसार ४।२८

मिथ्याज्ञान का स्वरूप और तीन भेद

ज्ञानावृत्युदयादर्थेऽबन्धादिगमो ऋमः ।

अज्ञानं संशयश्चेति मिथ्याज्ञानमिहु त्रिधा ॥ १० ॥

अर्थ—ज्ञान को ढक देने वाले ऐसे ज्ञानावरणी कर्म के उदय से पदार्थों के अन्य रूप से अर्थात् जैसा उसका स्वरूप है वेसा नहीं किन्तु अन्य प्रकार से जो ज्ञान होना है सो मिथ्याज्ञान है। वह ऋम (अनध्यवसाय) अज्ञान (विवरीत) व संशय के अद्य से तीन सरह का है अर्थात् उसके तीन भेद हैं ॥ १० ॥

विशेष—(१) ऋम मिथ्याज्ञान को अनध्यवसाय, अज्ञान मिथ्याज्ञान को विवरीत एवं संशय मिथ्याज्ञान को सन्देह नाम से भी उल्लिखित किया गया है।

‘किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः’ अर्थात् ‘कुछ है’ ऐसा निश्चय रहित ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है। हल्के प्रकाश में ‘स्थाणुर्वा पुरुषो वा’ (ठूँठ वृक्ष है अथवा आदमी है) ऐसा विरुद्ध जनेक कोटि का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहलाता है—‘विरुद्धानेककोटिस्पक्षिज्ञानं संशयः ।’ शरीर को आत्मा मानना आदि एकमात्र विवरीत का निश्चय करने वाला ज्ञान विवरीत कहलाता है—‘विवरीतेककोटिनिश्चयो विपर्ययः ।’ ये तीनों प्रकार के ज्ञान मिथ्याज्ञान हैं, क्योंकि इनसे वस्तुतस्व का ज्ञान सही नहीं होता है।

मिथ्याचारित्र का स्वरूप

वृत्तिमोहोदपाजन्तोः कषायवशवत्तिनः ।

योगप्रवृत्तिरशुभा मिथ्याचारित्रमूच्चिरे ॥ ११ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय में कषाय के वश में रहने वाले प्राणी के मन, वचन, काय रूप योगी की जो अशुभ प्रवृत्ति होती है उसे मिथ्याचारित्र कहते हैं ॥ ११ ॥

धिष्ठोष—चारित्र मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—कषाय वेदनीय और नोकपाय वेदनीय । प्रथम ता क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायों का अनुभव करता है तथा द्वितीय जीव को ह्रास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्ता, स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद का अनुभव करता है 'कषायो-दयात् तीव्रपरिणामशत्रारित्रमोहस्य' तीव्र कषाय के वशवर्ती होकर क्रोध-मान-माया-लोभ स्वयं करना व दूसरों में कषाय उत्पन्न करना और चारित्रधारी तपस्त्रियों गे दोष लगाना आदि कषायवेदनीय कर्म के बंध के कारण हैं । स्वयं क्रोधादि कपाये करना, दूसरों में उत्पन्न करना एवं उनके वशवर्ती होकर तपस्त्रियों के चारित्र में दोष लगाने आदि से कषायवेदनीय का बंध होता है तथा १-धर्म का दीन-हीन प्राणी की हँसी उड़ाना, बकवास एवं मजाकिया स्वभाव आदि होना, २-नाना प्रकार की क्रीडाओं में रत रहना, शौल में अरुचि होना आदि, ३-दूसरों में बेचैनी उत्पन्न करना आदि, ४-दूसरों में शोक पैदा करना एवं उनके शोक में आनन्द मानना आदि, ५-डरना, डराना आदि, ६-आचार के प्रति ग्लानि होना आदि, ७-असत्य संभाषण, परदोषदर्शन, मायाचार, तीव्रराग आदि का होना, ८-ईषत् क्रोध, अभीष्ट पदार्थों में कम आसक्ति, स्वदारसन्तोष आदि परिणाम रहना तथा ९-प्रबल कषाय, गुप्तेन्द्रिय छेदन, परस्त्री-गमन आदि उक्त नौ नोकपायों के बंध के कारण हैं । कषाय और नोकषाय (अल्प कषाय) दोनों का ही यही कषाय शब्द से उल्लेख समझना चाहिये । कषायों के आधीन हो जाने से जीव की मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्ति होती है । यह अशुभ प्रवृत्ति ही मिथ्याचारित्र है । चारित्र मोहनीय का स्वभाव ही संयम को रोकना है ।

बंध का प्रमुख कारण मिथ्यादर्शन

मिथ्याज्ञान मंत्री एवं समकार अहंकार सेनापति

बंधहेतुषु सर्वेषु मोहश्च प्रकृ प्रकौतितः ।

मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सञ्चिवत्वमशिश्रियत् ॥ १२ ॥

समाहंकारनामानी सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ ।

पदायत्तः सुदुर्भेदो मोहव्युहः प्रवर्तते ॥ १३ ॥

अर्थ— इन्ध के सम्पूर्ण कारणों में सबसे प्रथम मोह (मिथ्यादर्शन) कहा गया है। मिथ्याज्ञान तो उसका सहायक मात्र है। मिथ्याज्ञान तो इसका सहायक मात्र ही है। ममत्व और अहंकार हैं नाम जिनके ऐसे दो सेनापति हैं, वे दोनों, जिनके कि आधिपत्य में यह मोहल्ली व्यूह अत्यंत दुर्भेद्य हो रहा है उसके लड़के भी हैं। यहाँ पर मोह (मिथ्यादर्शन) को युद्ध में तत्पर राजा बतला, मिथ्याज्ञान को उसका मंत्री और ममकार एवं अहंकार को उसका पुत्र तथा सेनापति कहा गया है ॥ १२-१३ ॥

विशेष—(१) तत्त्वार्थसूत्र में भी बन्ध के जो पांच कारण परिगणित किये गये हैं, उनमें मिथ्यात्व को ही प्रथम कारण परिगणित किया गया है—

‘मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकपाययोगा बन्धहेतवः ।’ ८ १

मिथ्यात्व गृहीत एवं अगृहीत के भेद से दो प्रकार का होता है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से अनादिकाल से लगा हुआ भ्रम अगृहीत मिथ्यात्व है तथा परोपदेश से होने वाला एकान्त, विपरीत, संशय, वैनिक और अज्ञान रूप मिथ्यात्व गृहीत कहलाता है। गृहीत मिथ्यात्व को तो जीव अनेक बार छोड़ चुका है परन्तु आत्मस्वरूपोपलक्षित का वास्तविक बाधक तो अगृहीत मिथ्यात्व है, जिसका त्याग अत्यन्त आवश्यक है तथा इसे हो जीव ने अब तक नहीं छोड़ा है।

(२) यहाँ कहा गया है कि मोह एक अत्यन्त दुर्भेद्य व्यूह है। इस व्यूह के दो सेनापति हैं—ममकार और अहंकार। मिथ्याज्ञान दुर्भन्धणा करने वाला मन्त्री है। यदि कोई मोह व्यूह को तोड़ना चाहता है तो उसे ममकार एवं अहंकार नामक सेनापतियों को पहले नष्ट करना आवश्यक है। उनके नाश हो जाने पर व्यूह को तोड़कर विजय प्राप्त करना अत्यन्त सुकर है।

ममकार का लक्षण

शश्वदनात्मोयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।

आत्मोयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥

अर्थ— जो आत्मा से सदा भिन्न है, ऐसे कर्मोदय से उत्पन्न अपने शरीर आदि (स्त्री, पुत्र, मकान आदि) पदार्थों में आत्मोय (स्वस्व) भावना हो जाना सो ममकार (ममत्वबुद्धि) है। जैसे अपने शरीर में, जो कि आत्मा से पुयक है, “यह मेरा है” ऐसी बुद्धि होता ॥ १४ ॥

विशेष—मोहव्यूह का सेनापति ममकार है। बाह्य पदार्थ को अपना मानना ममकार कहलाता है। यह मेरा शरीर है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरा भवन है, यह मेरा धन है आदि ममकार के रूप हैं। ममकार के वशीभूत होकर प्राणी यह भूल जाता है कि मेरा तो केवल ज्ञानदर्शन इच्छावी आत्मा है। बाह्य में जो मेरा प्रतीत होने वाला है, वह तो मेरा साथ छोड़ देता है। अतः वास्तव में मेरा आत्मा ही मेरा है। किन्तु ममकार के कारण जीव परपदार्थों में अपना मानने की भूल करता है।

बृहद्ब्रह्मसंग्रह के संस्कृत वृत्तिकार श्रीछहुदेव ने ममकार की परिभाषा इस प्रकार दी है—“कर्मजनित देहपुत्रकलशादौ ममेदमिति ममकारः।” अर्थात् कर्मजनित देह, पुत्र, स्त्री आदि में ‘यह मेरा शरीर है’ आदि बुद्धि ममकार है। (द्रष्टव्य ३/४१ की पृष्ठि)

अहंकार का लक्षण

ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः ।

तच्चात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा त्रृपतिः ॥ १५ ॥

अर्थ—उन निभाव परिणामों में जो कर्मों के द्वारा किये गये हैं तथा निश्चय नय से जो आत्मा से भिन्न हैं, उनमें अपनेषन की भावना करता सो अहंकार बुद्धि है। जैसे “मैं राजा हूँ” ॥ १५ ॥

विशेष—मिथ्यात्व के कारण जीव आत्मस्वरूप को भूल गया है और शरीर को ‘मैं’ मान रहा है। शरीर की प्राप्ति में अपना जन्म और उसके छूट जाने को अपना मरण मानता है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अशानी हूँ, मैं शानी हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक इत्यादि विविध विकल्पों को ‘मैं’ मानकर अपनी अद्वा में रखता है। यह अहङ्कार मोहव्यूह की रक्षा करता है तथा ‘मैं’ केवल आत्मा मानता हूँ भाव को भुला देता है। ममकार की तरह अहङ्कार भी मोहव्यूह में एक सेनापति कहा गया है।

पंडितप्रबर दीलतराम जी ने अहङ्कार एवं ममकार का बड़ा ही रमणीय वर्णन किया है—

“मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव ।

मेरे सुत तिथ मैं सबल दीन, बेरूप सुभग भूरख प्रवीन ॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान ।

रामादि प्रकट ये दुःख दैत, तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥”

बृहद्रघ्यसंग्रह के संस्कृतवृत्तिकार श्रीब्रह्मदेव ने तृतीय अधिकार की ४१ वीं गाथा की वृत्ति में अहङ्कार की परिभाषा इस प्रकार दी है—“तत्रैव (कर्मजनितदेहपुत्रकलशादी) अमेदेन गौरस्थूलादिदेहोऽहं राजाहस्तिय-हङ्कारलक्षणमिति ।” अर्थात् उन शरीर, पुत्र, स्त्री आदि में अपनी आत्मा से भेद न मानकर ‘मैं गोरा हूँ’, ‘मैं मोटा हूँ’, ‘मैं राजा हूँ’ इस प्रकार मानना अहङ्कार का लक्षण है ।

मोह का घेरा

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्ममाहंकारसंभवः ।

इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जापते ॥ १६ ॥

अर्थ—मिथ्याज्ञान से धुक्त रहने वाले मिथ्यादर्शन (मोह) से ममकार और अहङ्कार उत्पन्न होते हैं और इन दोनों से जीव को राग एवं द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ १६ ॥

विशेष—यह सब मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यादर्शन का फल है कि व्यक्ति ममकार एवं अहङ्कार के कारण रागी द्वेषी बना रहता है । प० टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है—

‘मिथ्यादर्शनादिकरि जीव के स्वपरविदेक नाहों होई सके है । एक आप आत्मा अर अनन्त पुदगल परमाणुमय शरीर इनका संयोगरूप मनुष्यादि पर्याय निपञ्जे है, तिस पर्याय ही को आपो माने है । बहुरि आत्मा का ज्ञानदर्शनादि स्वभाव है ताकरि किञ्चित् जानना देखना होय है । अर कर्म उपाधितैः भये क्रोधादिक भाव तिन रूप परिणाम पाईये हैं । बहुरि शरीर का स्पर्श रस गन्ध वर्ण स्वभाव है, सो प्रकटे है अर स्थूल कृषादिक होना व स्पर्शादिक का पलटना इत्यादि अनेक अवस्था होय है । इन सबनि को अपना स्वरूप जाने है । तर्ही ज्ञान दर्शन की प्रवृत्ति इन्द्रिय मन के ढारे होय है तात्त्वं यहु माने है कि ए तत्त्वा जीव नासिका नेत्र कान मन दे मेरे अंग हैं, इनकरि मैं देखूँ जानूँ हूँ ऐसा मानि तात्त्वं इन्द्रियनिविदें प्रीति पाईये है ।’

आचार्य श्री योगीन्द्रदेव अमृताशीति प्रन्थ में लिखते हैं—

अज्ञानतिमिर प्रसरोयमन्तः

सन्दशितास्त्रिलपदार्थ विपर्ययात्मा ।

मन्त्री स मोहनुपतेः स्फुरतोह याम-

तायस्तुतस्त्वं शिवं तदुपायता वा ॥ १४ ॥

संसार का सम्यक् परिपालक राजा मोहम्मल है। इस राजा का प्रधानमन्त्री अज्ञान है। राजा को आज्ञा और आदेश का प्रधार प्रसार व प्रतिपालन कराना मन्त्री के हाथ में होता है। मन्त्री के परामर्शानुसार राजा काम करता है। अतः अज्ञान नामक मन्त्री ने अपनी मिथ्यात्वरूपी काली नादर संसारी प्राणियों पर भली प्रकार तंत्रों द्वारा रखी है। जिस प्रकार रंगीन काँच का चश्मा लगाने से सफेद बस्तुएँ भी रंगीन दिखलाई पड़ती हैं उसी प्रकार अज्ञानरूपीतिमिर से आच्छादित हृदययुत मानव की धर्मायं तत्त्व विपरीत प्रतिभासित होते हैं यह विपर्यस जब तक रहेगा तब तक धर्मायं आत्मतत्त्वका भाने नहीं हो सकता।

(ब्रह्मदादिका आ० विजयामर्ती)

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युनौकषायाद्य तस्मयाः ।

तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः ॥ १७ ॥

तेभ्यः कर्मणि वध्यन्ते ततः सुगतिवृग्नेती ।

तत्र कषायाः प्रज्ञायन्ते सहजानीन्द्रियाणि च ॥ १८ ॥

अर्थ—उन दोनों (राग-द्वेष) से कषायें होती हैं और नोकषायें कषाय-रूप ही हैं। उन (कषायन्तोकषायों) से योगों की प्रवृत्ति होती है और उससे प्राणिवध आदि (पाप) होते हैं। उन (प्राणिवधादि पापों) से कर्म बंधते हैं और उस (कर्मबन्ध) से सदगति एवं दुर्गति प्राप्त होती है। वहाँ (मतियोंमें) शरीर एवं स्वाभाविक रूप से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ॥१७-१८॥

पुस्तिहासिका

विशेष—(१) १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग ये ५७ आगम में आत्मव भाव कहे गये हैं। ६ इन्द्रिय असंयम और ६ प्राणि-असंयम ये १७ अविरति हैं। २५ कषायों में १६ कषाय और ९ नोकषायों का समावेश है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ वे चार कषायें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण एवं संज्वलन के भेद से $4 \times 4 = 16$ हो जाती हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय तत्त्वों का सत्य अद्वान नहीं होने देती है। यह सम्यग्दर्द्दन को रोकने वाली है। अप्रत्याख्यानावरण के प्रभाव से आवक तत्त्वों को पालन नहीं कर पाता है। प्रत्याख्यानावरण के प्रभाव से आवक को महाद्रतादि पालन करने के भाव नहीं होते हैं तथा संज्वलन के प्रभाव से पूर्ण वीतराग भाव व्याख्यातचारित्र नहीं होता है। नोकषाय का अर्थ

है—ईष्ट या हल्की कथाय । ये ९ हैं—हाथ्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्ता, स्त्रोवेद, पुत्रवेद एवं नपुंसकवेद । इन पञ्चोंस कथायों के प्रभाव से सत्य, असत्य, उभय, अनुभव एवं मनोयोग, एवं वचनयोग तथा औदारिक, औदारिकमिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिकमिश्र, आहारक, आहारकमिश्र एवं कार्मण से ७ कथयोग एवं १५ योगों को प्रवृत्ति होती है । इन योग से १२ प्रकार की अविरति उत्पन्न होती है और इन कारण कर्मों का बन्ध होता है । मोहाभिभूत जीव नाना प्रकार की कुचेष्टाओं को कर कथायों-नोकथायों से अपने को परिषुष्ट करता है—

अज्ञानमाहमदिरा परिपीय मुख्य,
हे हन्त हृति परिवलाति जलपतीष्टम् ।
पश्येदृशं जगदिदं पतितं पुरस्ते,
किन्तुष्वसे त्वमपि वालिष ! तादृशोऽपि ॥ १७ ॥

—अमृताशीलि

हे मूढे ! अज्ञानरूप मोहमदिरा के पान का प्रत्यक्ष कुफल देखकर भी तुम उसका त्याग करना नहीं चाहते यह अत्यन्त खेद की बात है । अहो खेद है लोग भदिरा पीकर नशा में चूर हो जाता है । जो मन में आता है वही बक्ता है, बोलता है, इच्छानुसार हैसता, गाता, बजाता रोता है—हिताहित विषेक से शून्य होकर जहाँ-तहाँ लालियों में गिरता पड़ता है । देखो ! यह संसार भी उसी प्रकार मोहमदिरा का पान कर स्वन्धर के भेद को भूलकर विपरीत आचरण करता है और दुर्गति का पात्र बनता है । हे मूजे ! उस प्रकार प्रत्यक्ष होने पर भी, फिर तुम क्यों ऊपर दृष्टि किये हो ? अर्थात् तुम्हें सावधान होना चाहिये किन्तु उल्टे तुम उसकी ओर देखना भी नहीं चाहते । यह विपरीत दशा क्यों ? विचार करो ।

तदर्थानिन्द्रियैर्पूङ्गुन् मुहृति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो द्रधो भ्रमत्येवं मोहयूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥

अर्थ—फिर स्पृशादि इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों को ग्रहण करता हुआ जीव मोहित होता है, द्वेष करता है । एवं अनुराग करता है । उसमें बन्ध होता है और इस प्रकार माह के व्यूह में फँसा हुआ जीव भ्रमण करता रहता है ॥ १९ ॥

विशेष—(१) जब जीव इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता है, तब एक समय में जैसे शुभ या अशुभ भाव होते हैं वैसे ही कर्मों का आन्तर

होकर बन्ध हो जाता है। बन्धन में पढ़ा हुआ जीव सोहवश ८४ लाख योनियों में अमण करता रहता है। रागद्वेष सहित कर्मों का भोग करने से नवोन कर्मों का बन्ध होता है। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

‘रत्तो बन्धदि कर्म्म मुच्चिदि जीवो विरागसंपर्णो ।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कर्मेतु मा रज्ज ॥ १५० ॥

(२) वास्तव में मोह ही बन्ध का कारण है। देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में कहा है—

‘भुजन्ता कर्मफलं भावं मोहेण कुण्ड सुहभुहं ।

जइ तं पुणो त्रि बन्धइ णाणावरणादि अदृठविहं ॥

अर्थात् यदि कर्मों के फल को भोगते हुए शूभ-अशुभ रूप भाव मोह के बशीभूत हो करने लगे तो वह जीव पुनः ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्मों को बाँधता है। यही बात समयसारकलश में भी कही गई है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।

रागादीनात्मनः कुथदितो भवति कारकः ॥

बज्ञानी जीव अपने आत्मा के स्वभाव को एवं पुदगल के स्वभाव को ठीक-ठीक नहीं जानता है। इसलिए अपने आपको रागद्वेष आदि रूप कर लेता है। अतएव कर्मों का बन्ध करता है।

तस्मावेतस्य मोहस्य मिथ्याज्ञानस्य च द्विषः ।

समाहंकारयोश्चात्मनिवनाशाय कुरुष्टमम् ॥ २० ॥

अर्थ—इसलिये है आत्मन् ! इस मिथ्यादर्शन (मोह) एवं मिथ्याज्ञान के शक्तु होने के कारण ममकार एवं अहङ्कार के विनाश करने के लिए उपाय कर ॥ २० ॥

विशेष—(१) परद्वयों को अपने रूप, अपने को पररूप और परद्वयों का स्वामी समझना अज्ञान है। भूतकाल अथवा भविष्य में भी इस तरह के होने को कल्पना करना अज्ञान है। जिस प्रकार अग्नि और ईंधन न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। उसी प्रकार आत्मा और शरीरादि पर द्रव्य न कभी एक थे, न हैं और न होंगे। किन्तु मिथ्याज्ञान के कारण अग्नि और ईंधन को जैसे एक समझता है, उसी प्रकार आत्मा और परद्वयों को भी एक समझता है। इसके कारण आत्मा में अहङ्कार, ममकार और

परकार विकारी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञानी आत्मा को इन विकारी भावों का त्याग करके आत्मा को परद्रव्यों से सर्वेत्या भिन्न समझना चाहिये। समयसार में कृन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानी आत्मा के अहङ्कार, ममकार आदि का सुन्दर विवेचन किया है—

“अहमेदं एदमहं अहमेदस्मिन् अस्थि मम एदं ।
अण्णं जं परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिन्नं वा ॥
आसि मम पुत्रमेदं एदस्स अहं पि आसि पुत्रं हि ।
होहिदि पुणी ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥
एयत्तु असंभूदं आदवियष्टं करेदि संभूदो ।
भूदत्थं जाणन्तो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥”

अर्थात् अपने से भिन्न जो सचित्त, अचित्त अथवा मिथ्यित पर द्रव्य है उनमें ‘मैं यह हूँ’ ‘यह मैं हूँ’ ‘मैं इसका हूँ’ ‘यह मेरा है’ ‘यह पहले मेरा था’ ‘मैं भी पहले इसका था’ ‘यह मेरा फिर होगा’ ‘मैं भी इसका होऊँगा’। इस प्रकार से मिथ्या आत्मविकल्पों को भूखी व्यक्ति करता है किन्तु ज्ञानी अद्वितीय वास्तविकता को जानता हुआ उन विकल्पों की नहीं करता है।

बन्ध के कारणों का विवरण

बंधहेतुषु मुख्येषु नश्यत्सु क्रमशस्तवं ।
शेषोऽपि रागद्वेषादिबन्धहेतुविनश्यति ॥ २१ ॥

अर्थ—बन्ध के मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञानादि प्रमुख कारणों के नष्ट हो जाने पर क्रमशः तुम्हारे बचे हुए राग, द्वेष आदि बन्ध के कारण भी भीरे-भीरे नष्ट हो जायेंगे ॥ २१ ॥

विशेष— १) अहंकार, ममकार आदि बन्ध के मूल कारण हैं। इनके कारण ही राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है। अर्थात् राग-द्वेष आदि का कारण अहंकार, ममकार, परकार है। जब अहंकार आदि नाश को प्राप्त हो जाते हैं, तो राग-द्वेष आदि का उसी प्रकार नाश हो जाता है जिस प्रकार तनुओं के दण्ड हो जाने पर वस्त्र का दाह हो जाता है। ‘डण्डानकारणभावे कार्याभावः’ यह सामान्य नियम है।

यथा कोई भी पुरुष अपने शरीर पर तेलादि चिकित्सा पदार्थ लगाकर धूल से धूसरित स्थान पर आकर ध्यायाम आदि करे तो वह धूल से लिप्त हो जाता है तथेव मिथ्यादृष्टि असंयमी जीव रागादि विभावपरिणामों को करता हुआ कर्मज से लिप्त होता है। तथा यदि वही पुरुष यदि अपने

शरीर पर चिकित्सा पदार्थ नहीं लगाते हुए व्यायाम आदि करता है तो वह धूल से लिप्त नहीं होता वैसे ही वही जो व सम्ब्रहदशान्, संयम सहित नाना चेष्टाओं को करता हुआ भी विभावपरिणामों का तथा व शुद्धात्मतत्त्व का श्रद्धान करता हुआ वंध के कारणों का विनाश करता हुआ मुक्तावस्था को प्राप्त होता है।

बन्ध कारणों के अभाव में मोक्ष

ततस्त्वं बन्धहेतुनां समस्तानां विनाशतः ।

बन्धप्रणाशान्मुक्तः सन्न भ्रमिष्यसि संसृतौ ॥ २२ ॥

अर्थ——तदनन्तर समस्त बन्धहेतुओं के नष्ट हो जाने से बन्ध के भी नष्ट हो जाने के कारण तुम मुक्त होकर संसार में परिभ्रमण नहीं करोगे ॥ २२ ॥

विशेष—(१) संसार परिभ्रमण का कारण बन्ध है। बन्ध रागद्वेष आदि के कारण होने वाली वैभाविक परिणति से होता है। ये ही बन्ध के कारण हैं। क्योंकि सक्षाय होने के कारण ही जो व कर्मयोग्य पुद्गलों का आदान करता है और वही बन्ध कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा गया है।

‘सक्षायत्वाञ्जीवः कर्मणो योग्यान्दुदगलानादत्ते सः बन्धः ।’

—तत्त्वार्थसूत्र ८/३

बन्ध के हेतुओं के नष्ट हो जाने पर बन्ध का स्वतः ही नाश समझना चाहिये। बन्ध के अभाव में जो व सर्व कर्मों से मुक्त होकर निर्विग्रह प्राप्त कर लेता है और उसे संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता है।

“बन्धहेत्वाभावनिर्जराभ्याम् कृतस्तकर्मविप्रमोक्षो भोक्षः” ।

—तत्त्वार्थसूत्र १०/२

मिथ्यात्म, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। बन्ध के कारणों में चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्म, षष्ठम में अविरति, सप्तम में प्रमाद, चारहवें बारहवें में कषाय और चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है। बन्ध के सम्पूर्ण कारणों का अभाव होने पर वह जो व सर्वकर्मों की निर्जरा कर सम्पूर्ण कर्मों से अस्थन्त रहित हो जिस अवस्था को प्राप्त होता है वह अवस्था मोक्ष है।

बन्धहेतुविनाशस्तु मोक्षहेतुपरिग्रहात् ।

परस्परविरुद्धत्वाच्छ्रीतोषणस्पर्शवत्तयोः ॥ २३ ॥

अर्थ—मोक्ष के कारणों को धारण कर लेने से बन्ध के कारणों का नाश तो ही हो जाता है। क्योंकि उन दोनों में श्रीतस्पर्श एवं उषणस्पर्श की तरह परस्पर दिटोधीयना है ॥ २३ ॥

विशेष—प्रस्तुत इनोक में मोक्ष कारण सम्यक्त्व एवं बन्धकारण 'मिद्यात्मादि' में श्रीतस्पर्श एवं उषणस्पर्श की तरह विरोध बताया गया है। जब जीव मोक्ष के कारणों का आधय ले लेता है तो बन्ध के कारणों का नाश हो जाता है। क्योंकि श्रीतस्पर्श एवं उषणस्पर्श का एक समय में एकत्र अवस्थान संभव नहीं है।

बन्धयते मुच्यते जीवः सम्मो निर्ममः क्रमात् ।

तस्मात्सर्वप्रथलेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २४ ॥

—इष्टोपदेश

परद्रव्य, स्त्री पुत्र कुटुम्ब, मकान आदि मेरे हैं इस प्रकार ममता बुद्धि जीव के बन्ध का हेतु है और परद्रव्य-पूर्णार्थ इष्ट पत्नी-पुत्र-परिवार आदि मेरे नहीं हैं 'निर्ममत्व' बुद्धि मुक्ति का हेतु है। बन्ध और मुक्त अवस्था में "३८" आंकड़े की तरह परस्पर विरोध है।

मुक्ति के कारण

सम्यग्रदर्शनज्ञानचारित्रश्रितयात्मकः ।

मुक्तिहेतुजिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥ २४ ॥

अर्थ—सम्यग्रदर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों को एकता मोक्ष का कारण है। निर्जरा एवं संवर की क्रियायें भी जिनेन्द्र भगवान् द्वारा मोक्ष हेतु कही गई हैं ॥ २४ ॥

विशेष—(१) तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्रदर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चरित्र इन तीनों को एकता को मोक्षभार्ग कहा गया है 'सम्यग्रदर्शनज्ञान-चरित्राणि मोक्षभार्गः त० १/१ ।' इन तीनों में साहचर्य सम्बन्ध है। सम्यग्रदर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एक साथ होते हैं। क्योंकि ज्ञान में सम्यक्त्व सम्यग्रदर्शन के निमित्त से आता है। जैसे मेघपटल के द्वार होने पर सूर्य का प्रनाप और प्रकाश एक साथ व्यक्त होता है। किन्तु सम्यक्चारित्र कभी तो सम्यग्रदर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के साथ ही प्रकट होता है और

कभी कुछ अन्तराल के बाद। किन्तु यह निश्चित है कि सम्यक्चारित्र अकेला नहीं रहता है। अतः तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है।

(२) बातमा में जिन कारणों से कर्मों का आल्पव होता है, उन कारणों का निरोध करते से कर्मों का आल्पव रुक जाता है। आल्पव के निरोध का संबर कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘आल्पवनिरोधः संबरः’ १/१

(३) तप विशेष से संचित कर्मों का क्रमशः अंश रूप से छाड़ जाना निर्जरा है। तप से संबर एवं निर्जरा दोनों होते हैं—‘तपसा निर्जरा च।’ तत्त्वार्थसूत्र १/३.

संबर और निर्जरा मोक्ष का कारण है। इसीलिये यहाँ पर मोक्ष के कारण को मोक्ष के कारणत्व का कथन किया गया है।

सम्यगदर्शन का स्वरूप

‘जीवादयो नवाप्यर्थं ये यथा जिनभाविताः।

ते तथैवेति या शद्वा सा सम्यगदर्शनं स्मृतम् ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव आदि जो नौ पदार्थ जिनेन्द्र भगवान् ने जैसे कहे हैं, वे ऐसे ही हैं—इस प्रकार का जो शद्वान है, वह सम्यगदर्शन कहा जाता है ॥ २५ ॥

विशेष—(१) आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में निश्चयनय की अपेक्षा सम्यगदर्शन का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा है—

‘भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपादं च।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्षो च सम्मतं ॥ १३ ॥

अर्थात् जीव, अजीव, पुण्ण, पाप, आल्पव, बन्ध, संबर, निर्जरा और मोक्ष इन नव पदार्थों की यथार्थ प्रतीति का नाम सम्यगत्व है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में पुण्ण-पाप को छोड़कर शीष सात तत्त्वों के शद्वान को सम्यगदर्शन कहा है—‘तत्त्वार्थशद्वानं सम्यगदर्शनम्। जीवाजीवाल्पवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।’ यह सम्यगदर्शन ज्ञान एवं चारित्र का मूल है। इसके बिना ज्ञान तथा चारित्र मिथ्यात्मरूपी विष से दूखित रहते हैं। प्रशम, सविग, अनुकूप्या और आस्तिक्य ये चार सम्यगदर्शन के चिह्न हैं। अनेक स्थलों पर सम्यगत्व के सवेग, निर्वेद, निन्दा, गहरी, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकूप्या ये आठ गुण भी कहे गये हैं। ये आठों उपर्युक्त चार चिह्नों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। प्रशम में निन्दा, गहरी और सविग में निर्वेद वात्सल्य और भक्ति गम्भित है।

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

प्रमाणनयनिक्षेपयोऽयाथास्म्यन् निश्चयः ।

जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं सदिष्यते ॥ २६ ॥

अर्थ—जो प्रमाण, नय और निष्ठोरों के द्वारा जीव आदि पदार्थों के विषय में ठोक-ठोक निश्चय नारना है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ २६ ॥

विशेष—(१) आत्मा में अनन्त स्वभाव एवं शक्तिर्थी हैं। इन सब में ज्ञान मुख्य है। क्योंकि इसी के द्वारा आत्मा का बोध होता है और आत्मा इसी के द्वारा प्रवृत्ति करता है। प्रकृत छोड़ोंक में प्रमाण, नय और निष्ठेप के द्वारा जीवादि के यथार्थ निश्चय को सम्यग्ज्ञान कहा गया है। तत्त्वार्थ-सूत्र में भी तत्त्वों के ज्ञान के साधन के रूप में निष्ठेप, प्रमाण एवं नय का ही कथन किया गया है—

‘नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तत्त्व्यासः । प्रमाणनयेन्द्रियामः ।’ (तत्त्वार्थ-सूत्र १/५-६)

जैसा पदार्थ है उसको वैसा ही जानना सो प्रमाण कहलाता है। पदार्थ अनेकान्त रूप स्वपर का स्वरूप प्रमाण द्वारा जाना जाता है। प्रमाण द्वारा निश्चित हृद्द वस्तु के एकदेश ज्ञान को जो ग्रहण करता है, उसे नय कहते हैं। कहा भी है—‘सकलादेशः प्रमाणाधीनः, विकलादेशः तयाधीनः।’ प्रमाण सम्यक् ही होता है किन्तु नय यदि प्रमाण का आश्रय छोड़ दे तो मिथ्या भी हो सकता है। प्रमाणबुद्धि सहित नय सम्यक् होता है। प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित लोकव्यवहार को निष्ठेप कहते हैं। निष्ठेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव। नय विषयों, ज्ञायक एवं वाचक है जबकि निष्ठेप विषय, ओय एवं वाच्य है। यही नय एवं निष्ठेप में अन्तर है।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप

चेतसा वचसा तन्वा कृतानुमतकारितेः ।

पाप-क्रियाणां यस्त्वाणः सम्यक्चारित्रमुष्टिं तत् ॥ २७ ॥

अर्थ—हृदय से, वचन से एवं शरीर से कृत (स्वयं करना), कारित (दूसरों से कराना) एवं अनुमोदना (करने वाले की प्रशंसा करना) से जो पाप क्रियाओं का त्याग है, उसे सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥ २७ ॥

विशेष—(१) जब मिथ्यात्व का अभाव हो जाने से भव्य जीवों को

सम्यगदर्शन एवं सम्यगज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब साथ-साथ उसे अनन्तानुबंधी कथाय के अभाव से भयम धारण करने की उल्लेख अभिलाषा होने लगती है। संयमामिलादो जीव पाप कियाओं के त्याग में प्रवृत्त होता है, उसकी इस प्रवृत्ति को ही सम्यक्चारित्र कहते हैं। वह स्वयं तो पाप कियाओं का त्याग करता ही है, दूसरों से भी पाप कियायें नहीं करता है और न ही करने वालों की अनुपोदता करता है।

(२) सम्यक्चारित्र सकल अर्थात् महाब्रतरूप साधुयर्थ और त्रिकल अर्थात् अणुशत रूप गृहस्थ धर्म के भेद से दो प्रकार का होता है। प्रत्येक जिज्ञासु को मोक्ष की इच्छा से चारित्र को धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। अणुशति की ५३ कियायें हैं—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, समता, ११ प्रतिमा, ४ दान, जलछानन, रात्रिभोजनस्याग, दर्शन, ज्ञान और चारित्र। कहा भी है—

‘गुणव्यतवसमप्तिमा दाणं जलगात्रणं च अणुशमियं ।
दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्णसावद्या भणिया ॥’

महाब्रती पञ्चपापों के सर्वथा त्यागी होते हैं तथा इसके निवाहार्थ वे अष्ट प्रवचनमात्रका (५ समिति, ३ गुप्ति) का पालन करते हैं। उनका २२ प्रकार का परीषह जय होता है। २८ मूलगुणों का पालन करते हैं तथा यथाशक्ति उत्तरगुणों का भी परिपालन करते हैं।

मोक्ष हेतु में साध्यसाधनता

मोक्षहेतुः पुनद्वेष्ठा निश्चयव्यवहारसः ।

तत्रात्मः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—पुनः निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्ष के कारण दो प्रकार के हैं। उनमें प्रथम (निश्चय) साध्यरूप है और दूसरा (व्यवहार) उसका साधन है ॥ २८ ॥

विशेष—“जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो” ।

—छहडाला ३/१

“निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः” ।—त० रा०

धर्मस्तिकाय आदि का अर्थात् षट्द्रव्य, पञ्चस्तिकाय, सप्ततत्त्व व तद पदार्थों का अद्वान करना सम्यगदर्शन है तथा अंग पूर्व सम्बन्धी अणगम ज्ञान सम्यगज्ञान है और तप में चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

जो आत्मा रस्तनश्य द्वारा समाहित होता हुआ, निजातपा में एकाग्र हुआ अन्य कुछ भी न करता है, न छोड़ता है, अर्थात् करने और छोड़ने के विकल्प से दूर हो गया है वही आत्मा निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है।

“निश्चय साध्य है और व्यवहार साधन है।” जैसे कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकार श्रद्धा करता है, और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है वैसे ही मोक्ष के इच्छुक पुरुष का जीवरूपी राजा को जानना चाहिये और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिये, और पश्चात् उसी का अनुचरण करना चाहिये और अनुभव द्वारा उसमें लय हो जाना चाहिये।

आचार्यों ने निश्चय मोक्षमार्ग के साधन रूप से व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन पुनःपुनः किया है। स्व और पर कारण रूप पर्याप्तिन तथा साध्यसाधन भेदभाव को लिये हुए व्यवहारनय है। जैसे स्वर्णपाषाण प्रदीप्त अग्नि के संयोग से शुद्ध स्वर्ण हो जाता है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग अन्तर्दृष्टि वाले जीव को ऊपर-ऊपर की परम रमणीक शुद्ध भूमिकाओं में विश्वानित की निष्पत्ति करता हुआ स्वयं सिद्ध स्वभावरूप से परिणमन करते हुए निश्चय मोक्षमार्ग का साधन होता है।

निश्चयनय व व्यवहारनय

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः ।

व्यवहारनयो भिन्नकर्तृकर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥

अर्थ—कर्ता, कर्म आदि विषय जिसमें अभिन्न वर्णित हों वह निश्चयनय है और जिसमें कर्ता, कर्म आदि भिन्न कथित हों वह व्यवहारनय है ॥ २९ ॥

विज्ञेय—(१) निश्चय कर्ता, कर्म आदि को अभिन्नता का कथन करता है जबकि व्यवहार भिन्नता का। यहाँ पर निश्चयनय एवं व्यवहारनय का प्रयोग निश्चय मोक्षमार्ग एवं व्यवहार मोक्षमार्ग के लिए किया गया है।

(२) तत्त्वानुशासन के इस श्लोक का ध्यानस्तव के निम्नांकित ७१वें श्लोक पर अत्यन्त प्रभाव है। दोनों में ही निश्चय और व्यवहारनयों का स्वरूप समान रूप से कहा गया है। ध्यानस्तव में कहा गया है—

'अभिन्नकर्तुं कर्मादिगोचरो निश्चयोऽथवा ।
क्यवहारः पुनर्देव ! निर्दिष्टस्तद्विलक्षणः ॥'

अर्थात् अथवा हे देव ! जो कर्ता एवं कर्म आदि कारकों में भेद न करके बस्तु को विषय करता है, उसे निश्चयतय कहा गया है। व्यवहारनय उससे भिन्न है।

व्यवहार मोक्षमार्ग

धर्मादिशब्दानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम् ।

चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहारान्मुक्तिहेतुरथम् ॥ ३० ॥

अर्थ—धर्म आदि का शब्दान करना सम्यग्दर्शन एवं उनको जाननी सम्यग्ज्ञान है। तपस्या में चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है। यह (तीनों की एकता) व्यवहार से मोक्ष का कारण है। ३०॥

विशेष—प्रस्तुत श्लोक में प्रकारान्तर से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के स्वरूप का विवेचन किया गया है। व्यवहारनय की अपेक्षा ये सम्यग्दर्शनादित्रय मोक्ष के कारण हैं। यहाँ धर्म आदि के शब्दान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। धर्मादि से किसका ग्रहण किया जाये—यह यहाँ विचारणीय है। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्य ने सुदेव, सुग्रु और सुधर्म में शब्दा को सम्यग्दर्शन कहा है—

'या देवे देवताबुद्धिः गुरी च गुरुतामतिः ।

धर्मे च धर्मधीः शुद्धा सम्यक्त्वमिदमुच्यते ॥'

—योगशास्त्र ३/२

किन्तु धर्मादि से यहाँ धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल तथा जीव इन षड्द्रकों का शब्दान ग्रहण करना अधिक समीचीन है। इन सबका पयःपानीवत् मिश्रण है। इससे जीव इन्हें अभिन्न समझता रहता है, जो मिथ्या है। इसका अलगाव जानना सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान नियम से सम्यग्दर्शन सहचरित होता है। ऐसा न होने पर ज्ञान में सम्यक्त्वता नहीं रहती है। तप आत्माभ्युदय का साधन है। यह अष्ट प्रकार की कर्म-न्यन्त्रियों को भस्म कर देता है। अतः सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के सहचरित तपस्या में चेष्टा को यहाँ सम्यक्चारित्र कहा गया है। जब ये तीनों पूर्ण होते हैं तभी साध्य की सिद्धि होती है एवं अविनाशी मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। महापुराण में कहा गया है—

के द्वारा, स्वयं का, स्वयं में परिज्ञान करती है और मध्यस्थ हो जाती है यही निश्चयनय से मोक्ष का मार्ग है' ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कथन है ॥ ३२ ॥

विशेष—निश्चयनय के अनुसार परपदार्थों से आत्मा को भिन्न मानकर अपने आप अपनी आत्मा में रुचि करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है । अपने आत्मा के स्वरूप का वर्धार्थ ज्ञान होना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने आत्मा में स्थिरता से लोन रहना सो सम्यक्चारित्र है । छहड़ाला की तीसरी ढाल के दूसरे पद्म में पण्डितप्रब्रवर दीलतराम जी ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र का निश्चय से ऐसा ही स्वरूप कहा है । यही निश्चय मोक्ष मार्ग है ।

"परद्रव्यनतीं भिन्न आप में रुचि सम्यक्त्वं भला है,
आप रूप को जानपनों सो सम्यक् ज्ञान कला है ।
आप रूप में लोन रहे थिर सम्यक्चारित सोई ॥"

—छहड़ाला ३/२

अर्थात् परम निरगेश रूप से निज पातारद तल्ल का सम्यक् थद्वान उसी परमात्मतत्त्व का सम्यक् परिज्ञान और उसी परमात्मतत्त्व में सम्यक् अनुष्ठानरूप शुद्ध रत्नत्रयात्मक मार्ग निश्चय मोक्षमार्ग है यही मोक्ष का उपाय है और निश्चय मोक्षमार्ग ही शुद्ध रत्नत्रय है इसका फल अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि है ।

सर्वज्ञदेव ने योगी पुरुषों का आत्मदर्शन (थद्वान) सम्यग्दर्शन, आत्म-ज्ञान-सम्यग्ज्ञान और स्वरूपाचरणचारित्र में रमण को सम्यक्चारित्र कहा है, यह निश्चय मोक्षमार्ग है, यही स्व-स्वरूपोपलब्धि में साधकतम करण है ।

अन्त अंत
उपर्युक्त व्याप्ति के अभ्यास का उपवेश

स च मुक्तिहेतुर्द्वौ व्याने परमादवाप्ते द्विविषोऽपि ।

तस्मादभ्यसत्त्वव्यानं सुविद्यः सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—दोनों प्रकार का वह देवीप्रयमान मोक्षमार्ग चूँकि व्यान में ही प्राप्त होता है, इसलिए बुद्धिनान् लोग आलत्य को त्याग कर हमेशा व्यान का अभ्यास करें, जिसमें मुक्ति हेतुओं की प्राप्ति हो सके ।

विशेष—(?) द्रव्यसंग्रह में भी यही अभिश्राय व्यक्त करते हुए कहा गया है कि—

'दुविहं पि मोक्षहेऽं ज्ञाणे पाउगदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूर्य ज्ञाणं समज्जसह ॥ ४७ ॥

अर्थात् भुनि नियम से दोनों प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान के आश्रय से ही प्राप्त करते हैं, अतः प्रयत्नशील होकर तुम लोग ध्यान का अभ्यास करो। और भी कहते हैं—

तवसुदवदवं चेदा ज्ञाणरहस्यरधरो हवे जम्हा ।
तम्हा तत्त्विय णिरदा तलुद्दीए सदा होइ ॥ ५७ ॥

—इत्यसंग्रह

बयोंकि तप, व्रत और श्रुतज्ञान का धारक आत्मा ध्यानरूपी रथ की धुरा को धारण करने वाला होता है इस कारण है भव्य पुरुषों। तुम उस ध्यान की प्राप्ति के लिये सदैव तत्पर रहो।

धर्म्य व शुक्ल सदध्यान

आत्म रौद्रं च दुर्धानि वर्जनीयमिवं सदा ।
धर्म शुक्लं च सद्धध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः ॥ ३४ ॥

बर्त्ता—ध्यान के चार भेद हैं (आत्म, रौद्र, धर्म्य व शुक्ल)। इनमें से, संसार से छुटकारा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के द्वारा आत्म परिणाम, एवं रौद्र परिणाम रूप जो खोटे ध्यान हैं वे सदा हो वर्जनीय (छोड़ने योग्य) हैं और धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान यहां करने योग्य हैं ॥ ३४ ॥

विशेष—ध्यान चार प्रकार का होता है—आत्मध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। इनमें आदि के दो ध्यान संसार का कारण होने से त्याज्य तथा अन्त के दो ध्यान मोक्ष का कारण होने से याहु कहे गये हैं। प्रियकस्तु का वियोग एवं अप्रिय वस्तु के संयोग का निराकरण करने के लिए, लक्षणी की प्राप्ति के लिए, पीड़ा दूर करने के लिए चिन्तन करना आत्मध्यान है और यह तिर्थञ्च गति का कारण है। हिंसा, झूठ, चोरी, भोगरक्षा का चिन्तन करना रौद्रध्यान है और यह नरक गति का कारण है। सर्वज्ञदेव की आज्ञा का चिन्तन, संसार के दुःखों के नाश का चिन्तन, कर्मफल का चिन्तन तथा लोकसंस्थान का विचार धर्म्यध्यान है और यह स्वर्ग-नुख का कारण है। पृथक्त्ववितर्कबोचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और समुच्छलकिशानिवृत्ति यह भार

प्रकार का शुक्लध्यान है और यह मुवित भहूल में प्रवेश कराने का कारण कहा गया है। अमितगतिशावकाचार के पन्द्रहवें परिच्छेद के ९वें से १५ वें श्लोक तक के आधार पर यह वर्णन किया गया है। निष्कषायभाव भाव से निर्मल परिणाम शुक्लध्यान में होते हैं।

शुक्लध्यान के स्वामी

बज्रसंहनतोपेताः पूर्वशुतसमच्छिताः ।

दद्युः शुक्लमिहातीताः श्रेष्ठोरारोहणक्षमाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस जगत् में बज्रवृषभनाराचसंहनन वाले, चौदह पूर्व श्रुत-ज्ञान को धारण करने वाले तथा क्षपकश्रेणी पर आरोहण करने में समर्थ प्राचीन लोगों ने शुक्लध्यान को धारण किया था ॥ ३५ ॥

विशेष—शुक्लध्यान के चार भेद हैं। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय का परिवर्तन करते हुए चिन्तन करना पृथक्त्ववित्तकविचार शुक्लध्यान है। श्रुत-ज्ञान के अवलंबन द्वारा बिना परिवर्तन किये हुये द्रव्य, पर्याय या योग में चिन्तन का इकना एकत्ववित्तक अवोचार शुक्लध्यान है। ये दोनों शुक्लध्यान ११ अंग और १४ पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवलियों के होते हैं। बादरकाययोगी बन सूक्ष्म काययोग के निरोधक रूप न गिरते हुए आत्मा में आत्मा की एकाग्रता सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान है तथा योग की क्रिया से रहित आत्मा की आत्मा में एकाग्रता समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति अथवा व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान है। ये दोनों शुक्लध्यान केवलियों के होते हैं। कहा भी गया है—शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। परै केवलिनः ।'

—तत्त्वार्थसूत्र, ९/३७-३८

गुणस्थानों की अपेक्षा प्रथम शुक्लध्यान आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक, द्वितीय बारहवें, तृतीय तेरहवें तथा चतुर्थ शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थान में होता है।

अमितगतिशावकाचार में शुक्लध्यान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आत्मा को निर्मल करने में समर्थ और रत्न के प्रकाश के समान स्थिर शुक्लध्यान आठवें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती मुमुक्षु साधकों के होता है। चिरकाल से सञ्चित सब कर्म ध्यान के द्वारा शीघ्र उड़ा दिये जाते हैं, जिस प्रकार बड़े हुए बादलों का समूह पवन के द्वारा उड़ा दिया जाता है। (इष्टब्द १५/८८-१९)

धर्मध्यान के कथन की प्रतिज्ञा

तादृकसामप्रयभावे तु ध्यातुं शुकलमिहाक्षमान् ।

ऐदंयुगीनानुद्विषय धर्मध्यानं प्रचक्षमहे ॥ ३६ ॥

अर्थ—परन्तु अब यहाँ वैसी सामग्री का अभाव होने पर शुकलध्यान को धारण करने में असमर्थ वर्तमान-कालीन लोगों को लक्ष्य कर धर्मध्यान को कहता है ॥ ३६ ॥

विशेष—शुकलध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननधारी, पूर्वों के ज्ञाता तथा अपकथेणी पर आरोहण करने वाले को होता है—यह पूर्व इलोक में कहा जा चुका है। चूंकि इस पञ्चम काल में वैसी दोषयता किसी में नहीं है, अतः शुकलध्यान इस पञ्चम काल में किसी के भी नहीं हो सकता है। अतएव नागसेन भुनि ने धर्मध्यान का विस्तार से कथन करने की प्रतिज्ञा की है ।

योगी को ध्यातव्य बातें

ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं पस्य यत्र यदा यथा ।

इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेत योगिना ॥ ३७ ॥

अर्थ—जो व्यक्ति या योगी पुरुष ध्यान करने के लिये हच्छुक है उसे निम्नलिखित आठ (८) बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये :—

ध्याता—ध्यान करने वाला ।

ध्यान—चितन किया ।

ध्यान का फल—प्रयोजन, निर्जरा संवर रूप ।

ध्येय—चितन योग्य पदार्थ ।

यस्य—जिस पदार्थ का ध्यान करता है । (द्रव्य)

यत्र—जहाँ ध्यान करता है । (स्थान)

यदा—जिस समय ध्यान करता है । (काल)

यथा—जिस रीति से ध्यान करता है । (भाव) ॥ ३७ ॥

विशेष—अमितगतिशावकाचार में योगी की ज्ञातव्य बातों का वर्णन करते हुए लिखा है—

'ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम् ।

विधेयानि प्रसिद्धवन्ति सामग्रीतो विना न हि ॥ १५/२३ ॥

अर्थात् ध्यान करने वाले योगी को ध्याता, ध्येय, ध्यान की विधि और ध्यान का फल ये चार बातें जान लेना चाहिये। क्योंकि योग्य सामग्री के बिना करणीय कार्य मिथ्या नहीं होते हैं।

ध्याता ध्येय ध्यान व ध्यान का फल

भुक्षेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं चस्तु यथास्थितम् ।

एकाग्रचितनं ध्यानं निर्जरासंबरौ फलम् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिसने इन्द्रियों एवं मन को वश में कर लिया उसे ध्याता (ध्यान लगाने वाला) कहते हैं, अपने स्वरूप से ग्नित पदार्थ ध्येय (चित्त-बन योग्य पदार्थ) कहे जाते हैं, एकाग्र चित्तन (अन्य पदार्थों या विचारों से मन को निवृत्त कर एक पदार्थ विचार में लगा देना) का नाम ध्यान है और कर्मों का अनागमन रूप संबर व कर्मों का शुद्ध ज्ञाना रूप निर्जरा उसके (ध्यान के) फल माने गये हैं ॥ ३८ ॥

विशेष—यही पर सक्षेप में ध्याता, ध्येय, ध्योन और उनके फल का कथन किया गया है। निरीहवृत्ति वाला वह धर्मध्यान का ध्याता हो सकता है, जिसने अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर लिया हो। प्रारम्भिक अवस्था की अपेक्षा से जो सविकल्पक अवस्था है, उसमें विषय क्षणायों को दूर करने के लिए तथा चित्त को स्थिर करने के लिए पञ्च-परमेष्ठों आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। फिर जब चित्त स्थिर हो जाता है, तब शुद्ध-शुद्ध-एकत्वभाव निज शुद्धात्मा का स्वरूप ध्येय होता है (दण्टव्य-बूहुदद्रव्यसंग्रह तृतीयाधिकार गाथा ५५ की ब्रह्मदेवकृत वृत्ति)। ध्येय पदार्थ में निश्चलता एवं स्थिरता को ध्यान कहते हैं तथा इस धर्मध्यान के द्वारा शुभाशुभ आनन्दों का निरोध तथा कर्मों के आंशिक झरने रूप निर्जरा होती है। अतः संबर और निर्जरा ध्यान का फल है।

देश-काल-अवस्था-रीति

देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्यानुगम्यताम् ।

यदा यत्र यथा ध्यानसपविष्ट्वा प्रसिद्ध्यति ॥ ३९ ॥

अर्थ—ध्यान करने वाले व्यक्ति को देश, (क्षेत्र) व काल का भली प्रकार से अव्ययन करके व उस अवस्था का भी सुषुरीति परिदीक्षन करे जिससे जिस क्षेत्र में, जिस समय में व जिस रीति से ध्यान किया जाय, उसमें किसी प्रकार की बाधा न आते हुए निविष्ट्वा रीत्या वह सम्पन्न हो जाय ॥ ३९ ॥

विशेष—प्रायः यह कहा जाता है कि हम तो अल्पश्रुत हैं, अतः ध्यान कैसे सम्भव है और पञ्चम काल में मोक्ष होता नहीं है, अतः ध्यान करना निष्कल है। इसी आन्ति को निर्मूल करने के लिए कहा गया है कि सब परिस्थितियों को देखकर भी जितना सम्भव हो ध्यान अद्वय करना चाहिये। बृहदद्वयसंग्रह की वृत्ति में ब्रह्मदेव ने ऐसी ही शंका उठाकर समाधान प्रस्तुत किया है। उसे यहाँ मूल रूप से उद्धृत कर रहे हैं—

—“मोक्षार्थं ध्यानं क्रियते न चाचाकाले मोक्षोऽस्ति; ध्यानेन कि प्रयो-
जनम् ? नैवं, अद्य कालेऽपि परम्परया मोक्षोऽस्ति । कथमिति चेत् ? स्व-
शुद्धात्माभावनाबलेन संसारस्थिति स्तोकां कृत्वा देवलोकं गच्छति, तस्मा-
दागत्य भनुष्यभक्ते रत्नत्रयभावनां लक्ष्या शीघ्रं मोक्षं गच्छतीति । येऽपि
भरतसु गरामपाण्डवादयो मोक्षं गताः तेऽपि पूर्वभवे भेदाभेदरत्नत्रयभाव-
नया संसारस्थिति स्तोकं कृत्वा पश्चान्मोक्षं गताः । तद्भवे सर्वेषां मोक्षो
भवतीति नियमो नास्ति । एवमुक्तप्रकारेण अल्पश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति
आत्मा कि कर्तव्यम्””””” (तृतीयाधिकार गाया ५७ की वृत्ति)

विना विशेष ध्यान साधना के सिद्धि प्राप्त करने के रूप में प्रसिद्ध
भरत चक्रवर्ती का नाम भी यहाँ पूर्व भव में ध्यान साधना करने वालों में
ग्रहण किया गया है। अतः यह भूल नहीं करना चाहिये कि भरत की
तरह हमें भी दीक्षा लेते ही तत्काल केवलज्ञान हो जायेगा। क्योंकि
उनके वर्तमान भव के पीछे पूर्ववर्ती जन्म-जन्मान्तरों की साधनायें
स्थित हैं।

उत्तम बाठ प्रकार से ध्यान के वर्णन की प्रतिका

इति संक्षेपतो ग्राह्यमष्टांगं योगसाधनम् ।

विवरोत्तुमदः किंचिदुच्यमानं निश्चम्पताम् ॥ ४० ॥

अर्थ—इस प्रकार से योग को साधन के लिये कारणोभूत, जो संक्षेप
से आठ अंग कहे गये हैं, उनको अंगीकार करना चाहिये। अतः आगे
इत्थीं आठ अंगों का विवेचन किया जाता है, उसे ध्यान पूर्वक सुनो ॥४०॥

विशेष—यहाँ अष्टांग योगसाधन से तात्पर्य उन बाठ ध्यात्वय बातों
से हैं, जिनका विवेचन सेंतीसवें इलोक में किया जा चुका है। अष्टांग
योग साधन को इस रूप में ग्रहण किया जा सकता है—

१. ध्यता—(ध्यान करने वाला तिष्ठृही साधु)

२. ध्यान—(ध्येय पदार्थ में निश्चलता)
३. ध्यान का फल—(संवर एवं निर्जरा)
४. ध्येय—(ध्यान करने योग्य पदार्थ)
५. विषय—(जिसका ध्यान करना हो)
६. स्थान—(ध्यान योग्य निविद्धन स्थान)
७. समय—(जब ध्यान करना हो)
८. रीति—(जिस प्रकार ध्यान करना हो) ।

ध्याता का स्वरूप

तत्रासन्नो भवेत्मुक्तिः किञ्चिच्चासाध कारणम् ।

विरक्तः कामभोगेभ्यस्त्वदत्तसर्वपरिग्रहः ॥ ४१ ॥

अभ्येत्य सम्यगाचार्यी दीक्षा जैनेइवरीं वितः ।

तपःसंथमसम्पन्नः प्रमादरहिताशयः ॥ ४२ ॥

सम्यम् निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुध्यवस्थितिः ।

आर्सीरोद्वपरित्यागाल्लब्धचित्तप्रसन्ति: ॥ ४३ ॥

मुक्तत्वोक्तद्वयापेक्षः षोडाशेषपरीषहः ।

अनुष्ठित क्रियायोगो ध्यानयोगे कुलोद्यमः ॥ ४४ ॥

महासत्त्वः परित्यक्तबुर्लेश्याऽशुभभावनः ।

इतीद्वलक्षणो ध्याता धर्मध्यानस्य सम्मतः ॥ ४५ ॥

अर्थ—अर्थात् जो निकट भविष्य में कार्य मूल से छूटने वाला है। उनमें जिसके मुक्ति समोपत्रिती हो, जो किसी कारण को पाकर काम-भोगों से विरक्त हो, समस्त परिग्रहों का त्यागो हो, जिसने श्रेष्ठ आचार्य के पास जाकर जैनधर्मोक्त दीक्षा को प्रहण कर लिया हो, जो तपस्या एवं संयम से सम्पन्न हो, प्रमाद से रहित हृदय वाला हो जिसने ध्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों की अवस्था का अच्छी तरह से निर्णय कर लिया हो, जो आत्म एवं राद्र ध्यानों के परित्याग से चित्त की निर्मलता को प्राप्त हो, दोनों लाकों को अपेक्षा से रहित हो, सम्पूर्ण परोषहों को सहन करने वाला हो, समस्त क्रियाओं का अनुष्ठान कर चुका हो, ध्यान-योग के विषय में उद्यमशील हो, महान् बलशाली हो तथा जिसने अशुभ लेख्याओं एवं अशुभ ध्यानों का त्याग कर दिया हो—इस प्रकार के इन लक्षणों वाला नरपुंगव ध्याता धर्मध्यान के योग्य माना गया है ॥४१-४५॥

विशेष—अमितगतिशावकाचार में पन्द्रहवें परिच्छेद के २८-२९ इलोकों में धर्मध्यान के ध्याता का विस्तार में वर्णन किया है। वहाँ कहा गया है कि जो स्वभाव से कोमल परिणामों में युक्त हो, कषायरहित हो, इन्द्रियविजेता हो, भयन्त रहित हो, प्रहृतकार रहित हो, परीप्रहों को पराजित करने वाला हो, तेय और उपादेय तत्त्व का ज्ञाता हो, लोकाचार से पराङ्मुख हो, कामभोगों से विरक्त हो, भलभ्रमण से भवभीत हो, लाभालाभ, सुखदुःख, शत्रुमित्र, विषाप्रिय, मानापमान एवं जीवनमरण में सम्भाव का धारक हो, आकस्यरहित हो, उद्वेग रहित हो, निद्राविजयी हो, दृढासन हो, अहिंसादि सभी व्रतों का अभ्यासी हो, सन्तानापयुक्त हो, परिग्रहरहित हो, सम्बरदर्शन से अलंकृत हो, वान्त हो, सुन्दर एवं असुन्दर वस्तु के प्रति अनुत्कृष्टित हो, भय रहित हो, देव-शास्त्र-गुह की भक्ति करने वाला हो, अद्वा गुण से युक्त हो, कर्मजातुओं को जीतने में शूरबीर हो, वैराग्ययुक्त हो, मूर्खता रहित हो, निदान रहित हो, पर की अपेक्षा से रहित हो, शरीर रूपी पिजरे का भेदने का इच्छुक हो और अविनाशी शिवपद को जानने का अभिलाषी हो—ऐसा ध्याता भव्य पुरुष प्रशंसनीय होता है।

गुणस्थान को अपेक्षा धर्मध्यान के स्वामी

अप्रमत्तः प्रमस्तद्य सद्दृष्टिदेशसंयतः ।

धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनः स्मृताः ॥ ४६ ॥

अर्थ—अप्रमत्त, प्रमत्त, अविरति सम्यादृष्टि एवं देशसंयत ये चार तत्त्वार्थ में धर्मध्यान के स्वामी कहे गये हैं ॥ ४६ ॥

विशेष—(१) अप्रमत्त अर्थात् सप्तम गुणस्थानवर्ती, प्रमत्त अर्थात् षष्ठम गुणस्थानवर्ती, सद्दृष्टि अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यादृष्टि तथा देशसंयत अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती ये चारों अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक के सम्यादृष्टि जीव धर्मध्यान के अधिकारी हैं। मिथ्यादृष्टियों को धर्मध्यान नहीं हो सकता है। आदिगुरुण (२१/५५-५६), ज्ञानाणंव (२८), इत्यानस्तव (१५-१६) में भी धर्मध्यान के स्वामियों का निर्देश करते हुए उसका सद्भाव असंयत सम्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त संयत तक चार गुणस्थानों में माना गया है। इन सभी का आधार तत्त्वार्थवातिक का धर्मध्यान के स्वामिविषयक निर्देश है। तत्त्वानुशासन के इस इलोक में गृहीत 'तत्त्वार्थ' पद के द्वारा सम्भवतः तत्त्वार्थवातिक की ही सूचना दी गई है।

धर्मध्यान के भेद

मुख्योपचारभेदेन धर्मध्यानमिह द्विषा ।

अप्रमत्तेषु तन्मुख्यमितरेष्वोपचारिकम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—इनमें मुख्य और उपचार के भेद से धर्मध्यान दो प्रकार का होता है। अप्रमत्त नामक (सप्तम) गुणस्थान वालों में वह मुख्य और अन्य (चतुर्थ, पंचम एवं षष्ठि) गुणस्थान वालों में औपचारिक का होता है ॥ ४७ ॥

विशेष—धर्मध्यान के स्वामियों के विषय में पर्याप्त मतवैशिन्य रहा है। तत्त्वार्थसूत्र में 'आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्मसु' कहकर भेदों के विषय में तो उल्लेख किया गया है, किन्तु स्वामियों के विषय में कथन नहीं है। सर्वथिसिद्धि टीका में अवश्य 'तदविरतदेशविरतप्रमत्ता-प्रमत्तसंयतानी भवति' कहकर चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक के स्वामित्व का निर्देश किया है। बहुदद्वयसंग्रह की टीका में इसे और स्पष्ट किया गया है—

'अतः परम् आर्तरोदपरित्यागलक्षणमाज्ञापायविपाकसंस्थानविचयसञ्जं चतुर्भेदभिन्नं तारतम्यदुद्धिक्रमेणासंयतसम्यगदृष्टि-देशविरत-प्रमत्तसंयता-प्रमत्तभिधानचतुर्गुणस्थानवर्तिजीवसाम्भवम् ।' (बहुदद्वयसंग्रह ४८ की टीका ।)

यहाँ प्रकृत फलोक में केवल इतना निर्देश किया गया है कि धर्मध्यान मुख्य और उपचार के भेद से दो प्रकार का होता है। मुख्य धर्मध्यान अप्रमत्त संयत नामक गुणस्थानवर्ती के तथा शेष (अविरतसम्यगदृष्टि, देशविरत और प्रमत्तविरत नामक) गुणस्थानवर्तियों के उपचार धर्मध्यान होता है।

सामग्री के भेद से ध्याता व ध्यान के भेद

द्रव्यक्षेत्राविसामग्री ध्यानोत्पत्तौ यत्सिद्धा ।

ध्यातारस्त्रविधास्तस्मासोषां ध्यानान्यपि त्रिषा ॥ ४८ ॥

अर्थ—चूंकि ध्यान की उत्पत्ति के लिये कारणीयूत द्रव्यक्षेत्रादि रूप सामग्री तीन प्रकार की है अतः ध्यान करने वाले व्यक्तियों के तीन प्रकार हैं तथा उन व्यक्तियों का ध्यान भी तीन प्रकार का है अर्थात् द्रव्य, शेत्रादि सामग्री उत्तम मध्यम व जब्तन्य के भेद से तीन प्रकार को है अतः उसके निमित्त से ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकार के हैं ॥ ४८ ॥

**विज्ञेय—वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थं समचित्तता ।
परीषहजयश्चेति पञ्चेते ध्यानहेतवः ॥**

—क्षत्रचूडामणि

क्षत्रचूडामणि ग्रन्थ में आचार्यश्री ने ध्यान की सामग्री बताते हुए ध्याता के शुभ चिह्न बताए हैं—वैराग्य, उत्तीर्ण का शब्द, रसिप्रहस्ताग, साम्यभाव और परीषहजय ।

कैसा ध्याता ध्यान योग्य है ? जिनाज्ञा पर श्रद्धान करने वाला, साधु का गुणकीर्तन करने वाला, दान, श्रूत, शील, तप, संयम में तत्पर, प्रसन्ननित, प्रेमी, शुभयोगी, शास्त्राभ्यासी, स्थिरचित्त, वैराग्यभावना में तत्पर ये सब धर्मयोगी के बाह्य व अन्तरंग चिह्न हैं । शरीर की निरागता, विषय लम्पटता व निष्ठुरता का अभाव, शुभ गृह्य, मल-मूत्र अल्प होना इत्यादि भी ध्याता के बाह्य चिह्न हैं ।

वज्ज्वरभन्नाराचसंहनन आदि उत्तम संहननधारी निर्ग्रन्थ साधु उत्तम ध्याता हैं । तीन होन संहनन के धारक निर्ग्रन्थ मुनि मध्यम ध्याता हैं तथा चतुर्थ पञ्चम मुण्डस्थानवर्ती जघन्य ध्याता हैं । उत्तम ध्याता का ध्यान उत्तम होता है तद्भव से मुक्ति को प्राप्त करता है । मध्यम ध्याता का ध्यान सात-आठ भवों में सिद्ध सुख प्राप्त करता है । तथा जघन्य ध्याता का ध्यान अद्विपुद्गल परावर्तन से अधिक भज्यजीव को संसार में रहने नहीं देता । अथवा अति संक्षेप में ध्याता दो प्रकार के हैं—प्रारब्ध योगी और निष्पन्न योगी । शुद्धात्म भावना को प्रारम्भ करने वाले पुरुष सूक्ष्म सविकल्पावस्था में प्रारब्ध योगी कहे जाते हैं और निष्किळ्य शुद्धात्मावस्था में निष्पन्न योगी कहे जाते हैं ।

(प० का० ता० द०)

उत्तम-मध्यम-जघन्य ध्यान

सामग्रीतः प्रकृष्टायाः ध्यातरि ध्यानमुत्तमम् ।

स्पाद्जजघन्यं जघन्याया मध्यमायास्तु मध्यमम् ॥ ४९ ॥

अर्थ—उत्तम सामग्री का योग मिलने पर ध्यान करने वाले व्यक्ति में उत्तम दर्जे का ध्यान होता है व जघन्य सामग्री का योग मिलने पर उसी व्यक्ति के जघन्य दर्जे का, व मध्यम दर्जे की सामग्री का सम्पर्क स्थापित होने पर मध्यम दर्जे का ध्यान होता है ॥ ४९ ॥

विज्ञेय—ध्यान की उत्पत्ति के कारणभूत द्रव्य-क्षेत्र-भाव आदि

सामग्री तीन प्रकार की है, इसलिये ध्याता व ध्यान भी तीन प्रकार के हैं। उत्तम सामग्री से ध्यान उत्तम होता है, मध्यम से मध्यम और जघन्य से जघन्य।

उत्तम वज्रवृषभनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चतुर्थ काल में शुबलध्यान धारक योगी उत्तम ध्यान के बल से मुक्तावस्था प्राप्त करते हैं। वज्रवृषभनाराचसंहनन तथा वज्रनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चतुर्थ काल में शुबलध्यान के पृथक्त्ववितर्क द्वारा मध्यम ध्यान के ध्याता एक-दो भव लेकर मुक्त होते हैं। तथा तीन हीन संहनन के धारक, कर्मभूमि, पञ्चम काल के जोड़ धर्मध्यान की सिद्धि कर निकट भव्यता को प्राप्त करते हैं।

अल्पश्रुतज्ञानी भी धर्मध्यान का धारक

श्रुतेन विकलेनापि ध्याता स्यान्मनसा स्थिरः ।

प्रबुद्धधीरधःश्रेष्ठोर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥ ५० ॥

धर्म—अच्छी तरह से विकास को प्राप्त हो गई है बुद्धि जिसकी ऐसा ध्यान करने वाला व्यक्ति यदि श्रेणी (उपशम या क्षपकश्रेणी) चढ़ने के पहिले-पहिले वह श्रुतज्ञान से विकल भी हो अर्थात् उसका पूर्ण विकास भी न हुआ हो फिर भी वह धर्मध्यान का अधिकारी कहा गया है ॥ ५० ॥

विशेष—इसमें आदिपुराण का अनुकरण किया गया है। आदिपुराण की शब्दावली भी लगभग यही है। वहाँ कहा गया है—

'श्रुतेन विकलेनापि स्याद् ध्याता मुनिसत्तमः ।

प्रबुद्धधीरधःश्रेष्ठोर्धर्मध्यानस्य सुश्रुतः ॥' २१/१०२

यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि अधःश्रेष्ठोः (दोनों श्रेणियों के नीचे) कहने से क्या अभिप्राय है? दोनों श्रेणियों से नीचे धर्मध्यान के अस्तित्व की सूचना आगे ८३वें श्लोक में पुनः दी गई है। वहाँ कहा गया है कि पञ्चम काल में जिनेन्द्र भगवन्तों ने शुबलध्यान का निषेध किया है, किन्तु दोनों श्रेणियों के पहले रहने वाले लोगों के धर्मध्यान माना है। यहाँ श्रेणियों के नीचे का अभिप्राय चतुर्थ अविरतसम्यगदृष्टि से अप्रमत्तविरत नामक सप्तम गुणस्थान तक धर्मध्यान को मानना अभीष्ट है।

धर्मध्यान का प्रथम लक्षण

सद्बृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेत्वराः विदुः ।

तस्माद्यदनपेत त्रिं धर्मं तदध्यानमध्यषुः ॥ ५१ ॥

अथ—धर्म के ईश्वर गणधरादि सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र को धर्म कहते हैं। इसलिए उस धर्म से युक्त जो चिन्तन है उसे धर्म्यध्यान कहते हैं ॥ ५१ ॥

विशेष—रत्नकरण्डशावकाचार में उपर्युक्त 'सददृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मेश्वराः विदुः' इलोकार्थ उयों का त्यों आया है। तत्त्वानुशासन में यह अंश रत्नकरण्डशावकाचार से ही प्रहण किया गया है। ध्यानस्त्रव में भी 'सददृष्टिज्ञानवृत्तानि' पाद (इलोक १४) रत्नकरण्डशावकाचार से ही प्रहण किया गया है। वहाँ धर्म्यध्यान का स्वरूप निर्देश करते हुए कहा गया है—

सददृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शार्मकरो हि सः ॥
अनपेतं ततो धर्मदि धर्म्यध्यानमनेकधा ॥

अथत् जो व का मोहक्षोभ से रहित जो भाव होता है उसका नाम धर्म है और वह सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र स्वरूप होकर मोक्ष मुख का कारण है। उस धर्म से अनपेत धर्म्यध्यान भी अनेक प्रकार का है। ध्यानस्त्रव के इस अध्यन में इलाजनुशासन ने प्रकृत एवं अश्रिय इलोक का अत्यन्त साम्य है। ध्यानस्त्रव के इस कथन में तत्त्वानुशासन का स्पष्ट प्रभाव है।

धर्म्यध्यान का द्वितीय लक्षण

आत्मनः परिणामो यो मोहक्षोभविवर्जितः ।
स च धर्मोऽनपेतं यस्तस्मात्सादृधर्म्यमित्यपि ॥ ५२ ॥

अथ—मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वह धर्म कहलाता है। उस धर्म से उत्पन्न जो ध्यान है, वह धर्म्यध्यान है—ऐसा भी कहा है ॥ ५२ ॥

विशेष—जो ध्यान धर्म से सम्पन्न होता है, उसे धर्म्यध्यान कहा गया है। प्रसंगतः यहाँ पर धर्म के स्वरूप का विचार करते हुए सर्वप्रथम मोहक्षोभरहित आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है। ध्यानशतक में भी कहा गया है—

‘सददृष्टिज्ञानवृत्तानि मोहक्षोभविवर्जितः ।
यश्चात्मनो भवेद्भावो धर्मः शार्मकरो हि सः ॥
अनपेतं ततो धर्मदि धर्म्यध्यानमनेकधा ॥ १४-१५ ॥

अर्थात् जीव का मोह के क्षेत्र से रहित जो भाव होता है, उसका नाम धर्म है और वह सम्पदर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्बद्धारित्र स्वरूप होकर मोक्षसुख का कारण है। उस धर्म से सम्पन्न ध्यान धर्मध्यान कहलाता है।

ध्यानशतक के इस विवेचन पर तत्त्वानुशासन का स्पष्ट प्रभाव है।

धर्म लक्षण

शून्योभवदिवं विक्षं स्वरूपेण धृतं यतः ।

तस्माद् वस्तुस्वरूपं हि प्राहृष्टम् महर्षयः ॥ ५३ ॥

अर्थ—यदि यह संसार स्वभाव से न रहता तो शून्य हो जाता, और चूंकि यह संसार स्वरूप से स्थिर रहता है इसलिए बड़े-बड़े योगीजन वस्तु स्वरूप को धर्म कहते हैं ॥ ५३ ॥

विशेष—धर्म के स्वरूप पर यही प्रकारान्तर से विचार किया गया है। यही वस्तु के स्वरूप को धर्म कहा है। कातिकेयानुप्रेक्षा में वस्तु के स्वरूप को धर्म मानने का कथन सर्वप्रथम किया है—‘वत्थुसहादो धर्मो’। जीवादि पदार्थों में जो जिसका स्वभाव है, वही धर्म कहलाता है। धर्म का यह व्यापक स्वरूप है। धर्मध्यानी योगी को धर्म के इस व्यापक स्वरूप का विचार करना चाहिये।

धर्मध्यान का लक्षण

ततोऽनपेतं यज्ञातं तवधर्म्यं ध्यानमित्यतः ।

धर्मो हि वस्तुयायारम्यमित्यार्थेऽप्यभिषानतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—उम वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है उसे धर्मध्यान कहते हैं वस्तु के याथात्म्य को ऋषि प्रणीत-धर्म-ग्रन्थों में धर्म माना गया है ॥ ५४ ॥

विशेष—(१) वस्तुस्वरूप धर्म से सम्पन्न ध्यान को धर्मध्यान कहा जाता है। यह धर्मध्यान का निश्चितपरक दूसरा अर्थ है।

अथवा

जिससे धर्म का परिज्ञान होता है वह धर्मध्यान समझता चाहिये।

(भ० आ०)

(२) पापकार्य की निवृत्ति और पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति का मूल कारण एक सम्यग्ज्ञान है इसलिए मुमुक्षु जीवों के लिये सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान औ बिनेन्द्रिय ने कहा है—(र० आ० म० १७)। राग-द्वेष को स्थाग कर

अर्थात् साम्यभाव से जीवादि पदार्थों का वे जैसे-जैसे अपने स्वरूप में
स्थित हैं वैसे-वैसे ध्यान या चिन्तन करता धर्मध्यान कहा गया है।
(ज्ञा० सा० १७)

धर्मध्यान का चतुर्थ लक्षण

प्रस्तूतमध्यमादिः स्याद्धर्मो दशतया परः ।

तत्त्वोऽन्तपैतं यद्यथानं तदा धर्म्यमितीरितम् ॥ ५५ ॥

ब्रह्म—अधिका उत्तम क्षमा आदि जां दश प्रकार का धर्म कहा गया
है, उससे सम्पन्न होनेवाला जो ध्यान है, वह धर्मध्यान कहा गया
है ॥ ५५ ॥

विशेष—कात्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्म को विभिन्न प्रचलित परिभाषाओं
का सम्बन्ध करते हुए प्रधानतया चार परिभाषायें दी हैं—

“धर्मो वस्तुसहावो, व्यादिभावो य दसविहो धर्मो ।

रथणतये च धर्मो, जीवाणं रक्खणं धर्मो ॥”

—कात्तिकेयानुप्रेक्षा, ४३८

इन चतुर्विध परिभाषाओं में क्षमादि दस प्रकार के भावों को भी धर्म
कहा गया है। ध्यानशास्त्रक में ‘उत्तमो वा तितिक्षादिवर्त्सतुरूपस्तयापरः ।’
कह कर प्रकारान्तर से उत्तम क्षमा आदि को धर्म कहा है। यहाँ पर उत्तम
क्षमादि दस प्रकार के धर्म से सम्पन्न ध्यान को धर्मध्यान कहा गया है।

ध्यान संबर व निर्जरा का हेतु

एकाध्यक्षिस्तारोधो यः परिस्पन्देन वर्जितः ।

तद्यथानं निर्जराहेतुः संबरस्य च कारणम् ॥ ५६ ॥

ब्रह्म—परिस्पन्द (चंचलता) से रहित जो एक पदार्थ की ओर चित्त
वृक्षि को, अन्य पदार्थों से हटा कर, लगाये रखना सो ध्यान है। वह
ध्यान कर्म निर्जरा व कर्मों के आगमन के रोकने के लिए कारण
है ॥ ५६ ॥

विशेष—ध्यान में मन, वचन, काय निष्क्रम्य हो जाते हैं। योग की
निष्क्रम्यता से कर्मों का आस्तव एवं बन्ध बिल्कुल नहीं होता है और पूर्व-
बहु कर्मों की अविपाक निर्जरा हो जाती है। यद्यपि पूर्ण संबर एवं
निर्जरा तो औदृहर्वें अयोगकेवली गुणस्थान में होती है तथा वही आत्मा

सिद्ध परमात्मा हो जाता है। किन्तु वौये गुणस्थान से लेकर भी आगे तक संवरपूर्वक निर्जरा होती रहती है। अतः शोणी को चाहिये कि बुद्धि-पूर्वक मन, वचन, काय को रोककर स्थिर बैठे तथा ध्याता-ध्येय एकमेव हो जाये। ध्यान से संवर एवं निर्जरा का कथन देवसेनाचार्य ने तत्त्वमार में भी किया है—

‘मणवयणकायरोहे रुज्ज्वल कम्माण आसबो ण० ।
विरभद्र गन्धि सह कलरोहय जाइ जोईण ॥ ३२ ॥’

एकाग्र चिन्तारोध पद का अर्थ

एकं प्रधानमित्यादुरग्रमालम्बनं मुखम् ।

चिन्तां स्मृति निरोधं तु तत्यास्तत्रैष वर्ततम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—एक कहते हैं प्रधान को, अग्र कहते हैं मुख को या आलम्बन को चिन्ता कहते हैं स्मरण को, और उसके (चिन्ता के) वहीं अग्रभाग में लगे रहने को निरोध कहते हैं ॥ ५७ ॥

विशेष—आचार्य अकलंकभट्ट ने कहा है “एकः शब्दः संख्यापदम् ।” (तत्त्वार्थाजवातिक) अर्थात् एक संख्या वाचक होने से यहाँ पर प्रधान अर्थ में विवक्षित है अग्र शब्द ‘आलम्बन’ तथा ‘मुख्य’ अर्थ में प्रयुक्त है। और चिन्ता को स्मृति कहा है। जो तत्त्वार्थसूत्र में कथित “स्मृति संमन्वाहारः” का वाचक है।

ध्यान का लक्षण

द्रव्यपर्यायिपोर्मध्ये प्राधान्येन यदपितम् ।

तत्र चिन्तानिरोधो यस्तद् ध्यानं बभूजिमाः ॥ ५८ ॥

अर्थ—वस्तु के द्रव्य व पर्यायात्मक स्वरूप में से जिसमें प्रधानता स्थापित की हो, उसी स्वरूप में चिन्ता के लगाये रखने को, जिनेन्द्रदेव ध्यान कहते हैं ॥ ५८ ॥

विशेष—(१) ध्यानशतक में हरिभद्रसूरि ने कहा है कि एकाग्रता को प्राप्त मन का नाम ध्यान है। इसके विपरीत जो अस्थिर मन है उसे भावना, अनुप्रेक्षा अथवा चिन्ता कहा जाता है। यहाँ पर जो चिन्ता-निरोध का नाम ध्यान कहा गया है, वह अस्थिर मन का निरोध अथवा ऐकाग्र्य ही है। अन्तमुहुर्त काल तक एक वस्तु में चित्त का अवस्थान

छद्मस्थों का ध्यान है तथा योगों का निरोध जिनके वलियों का ध्यान है।

(२) ध्यानस्तव में भास्करनन्दि ने अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के एक पदार्थ में निश्चलत्रण को ध्यान कहा है तथा उसके जड़ता या तुच्छता रूप होने का निषेध किया है—

'नानालम्बनचिन्तायाः ग्रदेकार्थं नियन्त्रणम् ।
उत्तमं देव ! स्वया ध्यानं न जाह्यं तुच्छतापि वा ॥ ५ ॥'

व्यग्रता अज्ञान और एकाग्रता ध्यान
एकाग्रत्वां विद्वत् वैग्रह्यविद्वन्तये ।
व्यग्रं हृत्वानभेदं स्याद्ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥ ५९ ॥

अर्थ—यहाँ (ध्यान के स्वरूप में) एकाग्रता का ग्रहण व्यग्रता या चक्षुलता को अलग करने के लिए है। क्योंकि व्यग्रता अज्ञान है और एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है ॥ ५९ ॥

विशेष—अन्य पदार्थों की चिन्ता को छोड़कर एक पदार्थ का चिन्तन करना ही यहाँ पर व्यग्रता या चक्षुलता का अभाव कहा गया है। ध्यान के स्वरूप में जो एकाग्रता का ग्रहण किया गया है, उसमें व्यग्रता का अभाव अभिप्रेत है। चक्षुलता अज्ञान रूप है तथा एकाग्रता ध्यान रूप है। चक्षुलता और एकाग्रता में परस्पर वैपरीत्य सम्बन्ध है।

प्रसंख्यानं समाधिः और ध्यान की एकता
प्रस्थाहृस्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्त्तनोम् ।
एकालम्बनं एवैनां निरुणद्वि विशुद्धधोः ॥ ६० ॥
तदास्य योगिनो योगिचिन्तेकाग्रनिरोधनम् ।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

अर्थ—कषायादि मल के निकल जाने से निर्मल हो गई है बुद्धि जिसको ऐसा योगी, नाना वस्तुओं में लगी हुई चिन्ता को (विचारों को) उनसे खींचकर एक पदार्थ के चितवन में ही लगाये रखता है, उसमें ही रोके रखता है, तब उस योगी का वह योग, अपने अमीप्सित मनोरथ की सिद्धि करने वाला ध्यान कहलाता है। उसी की चिन्ता का एक और लगाये रखना, प्रसंख्यान, समाधि का ध्यान कहते हैं ॥ ६०-६१ ॥

ज्ञानातीत्यप्रमात्मा निरुक्तिः ।
तत्त्वेषु चाप्रगच्छत्वावसावप्रमिति स्मृतः ॥ ६२ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए ध्यान के लक्षण में आये हुए पदों का निरुक्ति से भी अर्थ घटित करते हुए आचार्य कहते हैं कि “अंगति ज्ञानाति इति अयुँ” जो जानता हो उसका नाम अग्र है इस निरुक्ति से अग्र शब्द का अर्थ हुआ आत्मा तथा चौंकि माने गये तत्त्वों में सबसे पहले गिना जाता है, इसलिये भी आत्मा को अग्र कहते हैं ॥ ६२ ॥

द्रव्याधिकमयादेकः केवलो वा तथोदितः ।
अतःकरणवृत्तिस्तु चिन्तारोधो नियन्त्रणा ॥ ६३ ॥
अभावो वा निरोधः स्यात्स च चिन्तातरव्ययः ।
एकचिन्तात्मको यद्वा स्वसंविचिच्छतयोजितः ॥ ६४ ॥

अर्थ—द्रव्याधिक नय से आत्मा एक अथवा केवल कहा गया है। अन्तःकरण की वृत्तियों का नियन्त्रण चिन्तारोध कहलाता है। अभाव को निरोध कहते हैं और वह चिन्ताओं का नाश होना है। अथवा अन्य चिन्ताओं से रहित जो एकचिन्तात्मक आत्मा का ज्ञान है, वह अग्र आत्मा कहलाता है ॥ ६३-६४ ॥

चिन्ताओं के अभावरूप ध्यान और ज्ञानमय आत्मा एक ही
तत्रात्मन्यसहाये परिचितायाः स्पर्जनिरोधनम् ।
तद्वचानं तदभावो वा स्वसंविचित्तिमयइच्च सः ॥ ६५ ॥

अर्थ—एक का अर्थ है सहाय रहित तथा बग्र का अर्थ है आत्मा उसमें जो मनोवृत्ति को लगाये रखना सो ध्यान है। इसी को अन्य चिन्ताओं का नाश कहते हैं, जो कि स्वसंविचित्तिमय है ॥ ६५ ॥

ध्यान व ध्यान का फल

श्रुतज्ञानमुदासोनं	यथार्थमितिनिश्चलम् ।
स्वगपिचर्गफलदं	ध्यानमातिमुहस्त्तः ॥ ६६ ॥

अर्थ—रागहेष से रहित, यथार्थ, अस्थन्ति निश्चल श्रुतज्ञान को ध्यान

कहते हैं, जो अन्तमुहूर्त तक रहता है व स्वर्ग तथा मोक्ष रूप फल को देनेवाला है ॥ ६६ ॥

उत्तमसंहृननस्येकाग्रचिन्तानिरोधोऽप्यात्मान्तमुहूर्तति ॥

—तत्त्वार्थसूत्र ९/२७

उत्तम संहृनन वाले का एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है जो अन्तमुहूर्त काल तक होता है ।

“चित्तविशेषत्यागो ध्यानम्”—चित्त के विशेष का त्याग करना ध्यान है । (स० सि०)

निश्चयनयापेक्षा—इष्टानिष्ट बुद्धि के मूल मोह का छंद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान कहते हैं ।

(अ० ख०)

ध्याकरणशास्त्र से ध्यान का अर्थ

ध्यायते येन तद्व्याधानं यो ध्यायति स एव वा ।

यत्र वा ध्यायते यद्वा ध्यातिर्दा ध्यानमिष्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्यान है अथवा यो ध्यान किया जाता है वह ध्यान है । अथवा जिसमें ध्यान किया जाता है वह ध्यान है और ध्यान मात्र ध्यान कहलाता है ॥ ६७ ॥

अनुत्तमानरूप स्थिर मन ही वास्तविक ध्यान

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।

ततः स्थिरं मनो ध्यानं अनुत्तमानं च तास्त्विकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—चूंकि योगी लोग श्रुतज्ञान रूपी मन के द्वारा ध्यान करते हैं, इसलिए वास्तव में श्रुतज्ञान रूपी स्थिर मन ध्यान कहलाता है ॥ ६८ ॥

ज्ञान और आत्मा की अभिन्नता

ज्ञानादर्थीतरादात्मा तस्माज्ञानं न चान्यतः ।

एकं पूर्वपिरीभूतं ज्ञानमात्मेति कोटितम् ॥ ६९ ॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान से भिन्न या पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ नहीं है तथा ज्ञान भी आत्मा से पृथक् सत्ता रखनेवाला पदार्थ नहीं है । इसलिये पूर्वपिरीभूत जो एक ज्ञान है उसको ही आत्मा कहते हैं ॥ ६९ ॥

विशेष—आदा णाणपमाणं णाणं गोयणपमाणमुहिदुँ ।
णों लोयालोयं तम्हा णाणं तु सम्बगयं ॥ २३ ॥

—प्रबचनसार

आत्मा को ज्ञान के बराबर और ज्ञान को ज्ञेय पदार्थों के बराबर कहा है अतः आत्मा और ज्ञान असिंह ज्ञानना नहीं है। अर्थार्थ भी कुन्दकुन्द स्वामी प्रबचनसार में लिखते हैं कि ज्ञान आत्मा में भेद नहीं है क्योंकि ज्ञान आत्मा को छोड़कर नहीं रहता, अतः ज्ञान आत्मा ही है।

जो ज्ञानदि सी याणे ण हबदि णाणेण जाणगो आदा ।

णाणं परिणमदि सयं अद्वा णाणट्टिया सम्बवे ॥ ३५ ॥

—प्रबचनसार

जो ज्ञानता है वही ज्ञान है। ज्ञान गुण के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञायक नहीं होता। किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब ज्ञेय पदार्थ ज्ञान में स्थित हैं।

द्रव्याधिकन्य की अपेक्षा ध्याता और ध्यान की अभिम्भता
ध्येयाथलिंबनं ध्यानं ध्यानुर्यस्मान्त भिद्धते ।

द्रव्याधिकन्यातस्माद्वधातैव ध्यानमुच्यते ॥ ७० ॥

अर्थ—ध्येय पदार्थ का अवलम्बन करना ध्यान कहलाता है। क्योंकि वह ध्यान ध्याता से भिन्न नहीं होता है; इसलिए द्रव्याधिक नय की अपेक्षा से ध्याता हो ध्यान कहा जाता है। ७० ॥

कर्म और अविकरण दोनों ध्यान
ध्यातरि ध्यायते ध्येयं यस्मान्तिक्षयमाधितैः ।

तस्मादिदमपि ध्यानं कर्माधिकरणद्वयम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—निश्चयनय का आश्रय लेने वाले पुरुषों के द्वारा ध्याता में ही ध्येय का ध्यान किया जाता है, इसलिए कर्मकारक और अविकरण कारक (क्रमशः ध्येय और ध्याता) दोनों ध्यान कहलाते हैं। ७१ ॥

विशेष—आचार्य पूज्यपाद उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमान्त्रो निरत्ययः ।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥—इष्टोपदेश

अर्थात् अपना आत्मा अपने ज्ञान से स्वयं प्रकाशमान भली प्रकार से जाना जाता है। शरीर के बराबर अविनाशी अनन्त सुख वाला लोकालोक को जानने वाला है और भी कहा है “आत्मा का ध्यान आत्मा के

लिये (संप्रदान) अपनी ही आत्मा से (अपादान) अपनी आत्मा में (अधिकरण), स्व-आत्मा का (संबंध) चितवन किया जाता है अतः छह कारक रूप जो आत्मा है उसका ही नाम ध्यान है ॥ ७३-७४ ॥

ध्यान की सामग्री

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् ।

मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री व्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

अर्थ—समस्त परिग्रह का त्याग, कषायों का दमन, व्रतों का धारण तथा मन एवं इन्द्रियों की विजय यह सब ध्यान की उत्पत्ति में कारण सामग्री है ॥ ७५ ॥

विशेष—यहीं पर ध्यान की उत्पत्ति में आवश्यक सामग्री का कथन किया गया है । निग्रहप्रयत्न, कषायालभ्रह एवं व्रतधारण तथा संभव है, जब मन एवं इन्द्रियों की विजय हो जाये । आत्मा स्वभाव से शुद्ध है । इसका ज्ञानोपयोग चञ्चल है । पौचों इन्द्रियों के द्वारा रागवश यह विषयों को ग्रहण करता है तथा मन के द्वारा तर्क-वितर्क में फैसा रहता है । यदि ज्ञानोपयोग इन्द्रियों एवं मन के द्वारा कार्य करना बन्द कर दे तब इन्द्रियों एवं मन का व्यापार बन्द हो जायेगा और ऐसी अवस्था में ज्ञानोपयोग आत्मा में ही रहेगा तथा आत्मा का ध्यान ही हो जायेगा । देवसेनाचार्य ने कहा है—

‘थके मणसंकण्ये रुद्धे अवस्थाण विसयवाचारे ।

पयडइ बंभसर्वं अप्याक्षाणेण जोईण ॥ २९ ॥

—तत्त्वसार

अर्थात् मन के संकल्पों के बन्द ही जाने पर इन्द्रियों का विषयन्वयापार अवश्य हो जाता है तब आत्मा के भीतर परमब्रह्म परमात्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है ।

मन को जीत लेने पर इन्द्रियों की विजय

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः ।

मन एव जयेत्स्माद्जिते तस्मन् जितेन्द्रियः ॥ ७६ ॥

अर्थ—इन्द्रियों की प्रवृत्ति व निवृत्ति करने में मन ही समर्थ है इसलिये मन को ही वश में करना चाहिये, मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर आत्मा जितेन्द्रिय सहज ही होता है ॥ ७६ ॥

विशेष—मन अनियत आकांक्षाओं का आगार है असः इसे अनिन्द्रिय कहा है। पौर्णों इन्द्रियरूपी घोड़ों की दीड़ अपनी-अपनी सीमा में है जबकि मन रूपी बन्दर की चाल बेलगाम के घोड़े की तरह अमीमित है। मन की दशा कैसी है उसका कल्पना चित्र स्मृति हुए एक कवि ने लिखा है—

एक विशाल हाल में चारों तरफ कौच लगा दीजिये, उसमें बन्दर को छोड़िये। बन्दर के हाथ में छड़ी दे दीजिये और उसे शराब पिलाकर छोड़ दीजिये। उसकी जो दशा है वही दशा इस मनरूपी बन्दर की है। जब तक यह नहीं जीता जाता तब तक इन्द्रियों को जीतना भी अशक्य है। कवि कहता है—

“मन के हारे हार है मन के जीते जीत ।”

मन विजयी हो गया तो सारा संसार जीत लिया ऐसा समझो।
अथोकि—

“जगत् गुरु तो सब मिले, मन का गुरु न कोय ।

जो मन का गुरु नहीं, वह बगत् गुरु न होय ॥”

संयम, साधना ध्यान की कसीटी पर जीवन को कसकर मन को बश किया जाता है। यह मन कैसा है—

“मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर ।

मन के मते न चालिये, पलक-पलक मन ओर ॥”

चपल, लोभी मन के अनुसार चलने वाला जीव कभी सुखी नहीं होता। फिर इसका नियम कैसे किया जाय? आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी शंथराज समयसार में लिखते हैं—

विजारहमारुदो मणोरहपहेसु भमद जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिद्वि भुजेयब्बो ॥ २३६ ॥

हे भव्यात्माओं! यदि मन को जीतना चाहते हो तो विद्यारूपी रथ पर आरुद्ध होकर मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में अपन करो।

ज्ञान और वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों की विजय

ज्ञानवैराग्यरज्जीवियां नित्यमृत्यवर्तिनः ।

जितचित्तेन ज्ञानन्ते अतु मिन्द्रियवाजिनः ॥ ७७ ॥

अर्थ—अपने मन को जीत लेने वाला व्यक्ति हमेशा कुमार्ग में जाने वाले इन्द्रियरूपी घोड़ों को ज्ञान एवं वैराग्यरूपी रस्सियों से पकड़ सकता है ॥ ७७ ॥

विशेष—जिसने मन पर विजय प्राप्त कर लो है ऐसे व्यक्ति के द्वारा विनाश ही हिंसादि आप रूप कुमारी की और मुझे बाले इन्द्रिय रूपी थोड़े, ज्ञान व वैराग्य रूपी लगाम के द्वारा बश में किये जा सकते हैं अर्थात् मन का जीतने वाला पुरुष ही ज्ञान व वैराग्य की सहायता से इन्द्रियों को अपने बश में कर सकता है।

सम्यग्दृष्टे भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः,
स्वं वस्तुत्वं कलथितुभयं स्वात्मरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरणिदं तत्त्वतः स्वं परं च,
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात् सर्वतो रागयोगात् ॥ १३६ ॥

—समयसार कलश

सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है। क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थस्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और पर के त्याग की विधि कर “यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य का है ऐसे दोनों का भेद परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग-द्वेष, त्याग, हिंसादि पापों रूप कुमारी का त्याग कर मन इन्द्रिय को विजय करता है। सो यह मन और इन्द्रिय का विजयपना ज्ञान वैराग्य शक्ति के बिना नहीं होता।

चंचल मन का नियंत्रण

येनोपायेन शक्येत् सन्तिवन्तु चलं मनः ।

स एवोपासनोयोऽत्र न चैव विरमेत्ततः ॥ ७८ ॥

वर्ण—ध्यान में जिस उपाय से चंचल मन को नियन्त्रित किया जा सकता हो, उसकी ही उपासना करना चाहिये। उससे विरत नहीं होना चाहिये ॥ ७८ ॥

विशेष—मन की चंचलता का चित्रण करते हुए एक कवि ने कल्पना में अपने सुन्दर शब्दों का चयन किया है—

मेरा मनवा, कभी तो भागे जल में, कभी तो दौड़े थल में,

गलि ना भगवान की, कैसे रोके गति मन बैरामान की ?

इसकी दोढ़—मैंने कहा कि चल पूजन कर ले, पर ये बोँम्बे दौड़ गया,

मैंने माला लेकर देरा, ये पहुंचा पनघट पे

बड़ा है सैलानी ना सोचे अभिमानी बात कल्याण की

कैसे रोकूँ……………

लाख करो, इक ठौर सके ना ऐसा है ये आवारा ।
जाने कितनी चाह समेटे, फिरता मन का बंजारा ॥
जितनी लहरें इस मन में हैं, क्या होंगी सागर की
कभी तो घर की बातें, कभी व्यापार की
कैसे रोक़………

मन का नियंत्रण दुर्धर है, मन का नियंत्रण कैसे हो ? जिनने मन
को जीता उसी की बदना है—

अृषि मुनि तक रोक न पाये, कौन इसे समझायेगा ।
सचमुच वे हैं बदनीय जिनने इस मन को मारा ॥
पथिक ! इसको रोका कि पल-पल टोका, ध्यान की कमान से
तभी रुकी गति मन बेड़मान की………

ध्यान की कमान द्वारा इस चंचल मन को रोका जा सकता है अतः
प्रत्येक भव्यास्माओं को ध्यान का अध्यास करना चाहिये ।

मन को जीतने के उपाय

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥ ७९ ॥

अर्थ—स्पर्शनादि इन्द्रियों के विषयों से पराङ्मुख (उदासीन) हुआ
साधु, अनुग्रेषणाओं का चिन्तन करता हुआ व हमेशा ही स्वाध्याय में
तत्पर होता हुआ, मन को अवश्य हो वश में कर लेता है ॥ ७९ ॥

विशेष—जिस प्रकार अहमिन्द्र देव अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं
उसी प्रकार जो अहमिन्द्र के समान अपने-अपने कार्यों में नियत है, अपने-
अपने कार्यों में स्वतन्त्र हैं वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं । ये इन्द्रियाँ पाँच हैं—
स्पर्शन, रसना, ध्यान, चक्षु व कर्ण । एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी नहीं
कर सकती । स्पर्श का विषय-छूना, रसना का विषय स्वाद लेना, ध्यान
का विषय सौंचना, चक्षु का विषय देखना तथा कर्णेन्द्रिय का विषय सुनना
है । एक-एक इन्द्रिय के वश हुआ जीव अपना सर्वस्व खो बैठता है—

“अलि पतंग मृग मीन गज, याके एक ही आज ।

तुलसी वाकी का गति जिनके पीछे पाँच ॥”

हे आरम्भ ! मन पर विजय पाने के लिये पञ्चेन्द्रिय विषयों से पराङ्मुख होना आवश्यक है ।

अनित्यानि शरीराणि, वैभवो न हि शाश्वत ।
नित्य सन्दिहितो मृत्यु, धर्म एको हि निष्ठल ॥

अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तन करने से ज्ञान वैराग्य शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब ज्ञान व वैराग्य की शक्ति समृद्ध हो जाती है तभी मन नियन्त्रित हो जाता है—

मूनि सकलक्रती बड़भागो, भव-भोगनतै वैरागो ।

वैराग्य उपावन माई चिन्ती अनुप्रेक्षा भाई ॥

वैराग्य को उत्पन्न करने वाली बारह भावनाओं का बार-बार चिन्तन करने से यह जो व संसार-शरीर और भोगों से विरक्त होता है । वे बारह भावाएँ—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशूचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ व धर्म अनुप्रेक्षाएँ हैं ।

ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः । आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है ।—(स० सि ९/२०)

“स्वस्मै हितोऽव्यायः स्वाध्यायः” । अपने आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है ।—(चा०सा०)

स्वाध्यायी आत्मा ही सहजता से इन्द्रियों पर विजय पा सकता है तथा स्वाध्यायी आत्मा ही बारह अनुप्रेक्षाओं का सुष्टुरीत्या चिन्तन कर सकता है यथा—शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, परद्रव्य भावा-पितादि कोई शरण नहीं, मेरा आत्मा ही मुझे शरण है, वृश्वहार में पञ्चपरमेष्ठी भी शरण है । संसार दुःखों का घर है, यहाँ मेरा कोई स्थान नहीं है, मेरा निवास मुक्तिपुरी शाश्वत है । मैं एक हूँ, शरीर अनेक हैं । मैं अन्य हूँ मुझ से भिन्न सर्व पदार्थ अन्य हैं । शरीर अपवित्र है, मैं सदा पवित्र, पावन हूँ । कर्मों का आस्रव मेरा स्वभाव नहीं विभाव है । संवर, निर्जरा के बिना मेरा आत्मा चौदह राजू लोक में झ्रमण करता रहा है । संसार में अनकनक-कामिनी-राज्य वैभव आदि की प्राप्ति सुलभ है किन्तु एकत्वविभक्त शुद्धचिदानन्द चेतन प्रभु के समोचीन ज्ञान की प्राप्ति अति कठिन है ।

इस प्रकार बारह भावनाओं में चिन्तन करने वाला वैरागी आत्मा एकत्वविभक्त आत्मा की प्राप्ति में सतत उद्यमी हो, मन को जीत कर शूद्धात्मा में लीन हो जाता है ।

पञ्चनमस्कार मंत्र जाप एवं शास्त्रों का पठन-पाठ्य स्वाध्याय

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पञ्चनमस्तुतेः ।

पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥ ८० ॥

अर्थ— एकाग्र चित्त से पंच णमोकार मंत्र का जप करना, सबसे बड़ा स्वाध्याय है अथवा जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट शास्त्रों का पढ़ना सो भी परम स्वाध्याय कहलाता है ॥ ८० ॥

विशेष— जिण सासभस्स सारो, चउद्दस पुव्वाणि समुद्दारो ।

जहस मणे णमोक्कारो, संसारो तस्स किं कुणई ॥

जो जिनशासने का सारभूत है, यारह अंग चौदह पूर्वों का उद्वार रूप है ऐसा णमोकार मंत्र जिसके हृदय में है, संसार उसका क्षया कर सकता है ?

णमोकार मंत्र किसे कहते हैं ?—जिस मंत्र में परमपद में स्थित परम आगम्य देव अर्हत्त-सिद्ध-आत्माय-उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों को नमस्कार किया जाता है उसे णमोकार मन्त्र कहते हैं । यह मन्त्र अनादि-तिथिन है । इसमें ५ पद, ५८ मात्राएँ तथा ३५ अक्षर हैं । इस मन्त्र का आप १८४३२ प्रकार से बोला जा सकता है । भावपूर्वक इस मन्त्र का जाय्य करना सबसे बड़ा स्वाध्याय है तथा जिनेन्द्र कथित, गणधर गूणित व मुनियों के द्वारा प्रसारित जिनवाणी का बाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश विधि से अध्ययन करना स्वाध्याय है ।

पढ़े हुए ग्रन्थ का पाठ करना, व्याख्यान करना बाचना है, पृच्छना—शास्त्रों के अर्थ को किसी दूसरे से पूछना । अनुप्रेक्षा—ब्राह्मवार शास्त्रों का भनन करना । आम्नाय—शुद्ध उच्चारण करते हुए पढ़ना । धर्मोपदेश—समीचोन धर्म का उपदेश देकर भवग्रामाओं को मोक्षमार्ग में लगाना ।

णमोकार मन्त्र का एक बार भी भावपूर्वक स्मरण करने वाले ने यारह-अंग चौदह पूर्वों का अध्ययन कर लिया है ऐसा समझना चाहिये ।

ध्यान और स्वाध्याय से परमात्मा का ज्ञान

स्वाध्यायाद्यानमध्यास्त्ता ध्यानात्स्वाध्यायमासनेत् ।

ध्यानस्वाध्यायसंपत्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

अर्थ— स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास होता है और ध्यान से स्वाध्याय की वृद्धि होती है । ध्यान एवं स्वाध्याय रूपो सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है ॥ ८१ ॥

विशेष— स्वाध्याय को समाप्त कर लेने पर ध्यान करना चाहिये और ध्यान करने से भी ऊब जाने पर स्वाध्याय करने में लग जाना चाहिये,

कारण कि ध्यान और स्वाध्याय करते रहने से ही परमात्मा कमं भल रहित शुद्ध आत्मा-अकाशित होने लगता है।

पञ्चमकाल में ध्यान न मानने वाले अज्ञानी
६ येऽप्राहृन्तं हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।

तेर्हेत्तानभिज्ञत्वं स्थापयत्यात्मनः स्वयं ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस विषय में जो लोग कहते हैं कि यह पञ्चमकाल ध्यान का समय नहीं है, वे लोग अपने आपकी अहंत भगवान् के मत की अज्ञानता को स्वयं प्रकट करते हैं ॥ ८२ ॥

विशेष—इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में की है—

‘संकाक्षागहिया विसयवस्त्वा सुमग्गव्यब्दमट्टा ।

एवं भण्णति केई णहु कालो होइ ज्ञाणस्स ॥ १४ ॥

अर्थात् जो लोग ऐसा कहते हैं कि यह ध्यान के योग्य काल नहीं है, वे वास्तव में शंकापस्त, विषयासक्त और सुमार्ग से छाटे हैं। कुछ लोग पञ्चमकाल में मोक्ष न हो सकने से ध्यान की भी असंभवता का कथन करते हैं। वे वास्तव में तत्त्वज्ञान से शून्य, प्रमादी एवं विषयभोगों में सुख मानने वाले लोग हैं। सम्यादृष्टि कभी भी ऐसा नहीं कह सकता है, वह तो निरन्तर आत्म-प्रभावना में उद्योगी बना रहता है तथा आत्म-ध्यान करने का पुरुषार्थ करता है। वह अपने पुरुषार्थ में दुःखमा पञ्चमकाल को बाधक होने का बहाना नहीं करता है।

मरहे दुस्समकाले धम्मज्ञाणं हवेइ साहुस्स ।

तं अप्यसहायिदेण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥ ७६ ॥

—मोक्षपादुष

अर्थात् भरतक्षेत्र में इस पञ्चमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है वह धर्मध्यान आत्म-स्वभाव में स्थित साधु के होता है ऐसा जो नहीं मानता है वह अज्ञानी है। अभी जिस ध्यान का निषेध है वह शुक्लध्यान है। मात्र शुक्लध्यान का निषेध पञ्चमकाल में आचार्यों ने कहा है, इससे ध्यान भाव का लोप करना भुत का अवर्णवाद ही समझना चाहिये।

पञ्चमकाल में शुक्लध्यान का निषेध श्रेणी के पूर्व धर्मध्यान का कथन अन्नेवानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।

पर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवत्तिनाम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—इस समय यहाँ जिनेन्द्र भगवन्तों ने शुक्लध्यान का निषेध किया है किन्तु श्रेणियों (उपशम एवं क्षपक) के पहले रहने वाले लोगों के धर्मध्यान को कहा है ॥ ८३ ॥

विशेष—पञ्चमकाल में धर्मध्यान हो सकता है । इस तथ्य का कथन करते हुए देवमेनाचार्य ने लिखा है—

अजज्ञि तिरण्णवंता अप्या ज्ञाऊण जंति शुरुलोयं ।

तत्थं चुया मणुयते उपजिज्य लहहि गिष्वांगं ॥ १५ ॥

—तत्त्वसार

अर्थात् आज भी इस पंचमकाल में मध्यलोकवासी मानव आत्मा का ध्यान करके स्वर्गलोक को जा सकते हैं तथा वहाँ से च्युत हो मानव जन्म धारण करके प्रोक्ष को पा सकते हैं ।

वज्रवृषभनाराचसंहननो के ही ध्यान का कथन
शुक्लध्यान की अपेक्षा से

यत्पुनर्वज्ञकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।

अेष्योद्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्लिषेधकम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—और जो वज्रवृषभनाराचसंहनन वाले के ध्यान होता है— ऐसा आगम में कथन है वह श्रेणियों (उपशमक एवं क्षपक) में होने वाले ध्यान (शुक्लध्यान) के प्रति कहा गया है । वह कथन तीव्रे के गुणस्थानों में ध्यान का निषेध करने वाला नहीं है ॥ ८४ ॥

विशेष—वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच ये तीन उत्तम संहनन हैं । इनमें मुक्ति प्राप्ति का कारण प्रथम वज्रवृषभनाराचसंहनन होता है । ध्यान तप का लक्षण करते हुए तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—

“उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तारोधोध्यानमान्तर्मुहूर्तति । १/२७

अर्थात् उत्तम संहनन वाले का अन्तर्मुहूर्त तक एकाग्रतापूर्वक चिन्ता का निरोध ध्यान कहलाता है ।

उत्तम संहननवारी हो श्रेणी पर आरोहण करके आठवें गुणस्थान पर जा सकते हैं । तत्त्वार्थसूत्र का कथन प्रशस्त ध्यान की प्रधानता की अपेक्षा है । क्योंकि धर्मध्यान तो हीन संहनन वालों के भी ही सकता है, परन्तु इसका काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त ही होगा । आजकल तीन उत्तम संहनन

होते ही नहीं हैं, केवल तीन हीन संहनन होते हैं। इसलिये सप्तम गुणस्थान तक ही जीव की सत्ता है। धर्मध्यान में मन्दकषाय का होना आवश्यक है। कषायों की मन्दता तारतम्य में चतुर्थं गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान तक होती है। अतः धर्मध्यान भी इन गुणस्थानों में हो सकता है। आगम में पञ्चमकाल में ध्यान का अभाव शुक्लध्यान की अपेक्षा बण्ठित समझना चाहिये, धर्मध्यान की अपेक्षा से नहीं। इसी कारण तत्त्वानुशासन में आगे पाँच कारिकाओं में धर्मध्यान के निरन्तर अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

शक्त्यनुसार धर्मध्यान करणीय

ध्यात्वारक्त्वेत्त्वं इत्तदाह शुतज्ञात्यपारणः ।

तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वक्षिततः ॥ ८५ ॥

अर्थ—अगम, अगाध आगम समुद्र के पार पहुँचे हुए, ध्यान करने वाले मुनि यदि वर्तमान समय में नहीं पाये जाते हैं तो क्या इसका यह अर्थ है कि अल्प श्रुतज्ञान के धारी अन्य मुनिगणों को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ध्यान (धर्मध्यान) नहीं करना चाहिये ? नहीं, ऐसा अर्थ कभी भी नहीं स्माया जा सकता ॥ ८५ ॥

दिक्षोष—द्वादशांग श्रुतज्ञान ग्यारह अंग और चौदह पूर्वमय विशाल है। इसमें १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ अर्थात् एक कम इकट्ठी प्रमाण अंगप्रविष्ट और अंग बाह्यश्रुत के समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं। द्वादशांग के समस्त पद एक सी बारह तेरासी लाल अद्वावन हजार पाँच हैं।

धर्मध्यान के लिये द्वादशांश का पूर्ण ज्ञान, अथवा अंग पूर्व का ज्ञान हो ही यह आवश्यक नहीं, मात्र अष्टप्रबचनमातृका (५ समिति ३ गुणि) का ज्ञान अपने आप में मुक्ति का साधक है। देवागमस्तोत्र में समन्तभद्र आचार्य लिखते हैं—

अज्ञानान्मोहिनो बन्धा नाऽज्ञानाद्वीतीमोहतः ।

शानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

मोह रहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है। मोह सहित अल्पज्ञान अथवा बहुज्ञान भी बंध का कर्ता है। तात्पर्य है कि धर्मध्यान के लिये अल्पज्ञान वालों को भी प्रयत्न/पुरुषार्थ करना चाहिए। अल्पज्ञान है अतः ध्यान नहीं कर सकते हैं ऐसा बहाना करना आलसी प्रमादियों का काम है, मोक्षार्थी ऐसा अनर्थ कभी नहीं करते।

शक्त्यनुसार तप धारणीय

चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति ।

तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥ ८६ ॥

बर्थ—यदि इस पंचमकाल में यथाख्यातचारित्र के परिपालन करने वाले नहीं पाये जाते हैं, तो क्या अन्य तपस्वी गण अपनी शक्ति के अनुसार अन्य चारित्र का आचरण नहीं करें? नहीं, उन्हें अपनी शक्ति के अनुसार, यथाख्यातचारित्र से अतिरिक्त चारित्रों का आचरण करना चाहिये ॥ ८६ ॥

विशेष—संसारकारणनिवृत्तिप्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्त-
क्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम् । —सर्वार्थसिद्धि

जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के उद्देश हैं उसके कर्मों के ग्रहण करने विमितभूत किया के त्यग को सम्यक्चारित्र कहते हैं । —सर्वार्थसिद्धि २ सूत्र

असुहादो विगिदित्ति सुहे पविसी य जाण चारितं ।

वदसमिदिगुत्तिरूर्व ववहारणया दु विणभणियं ॥ ४५ ॥

—द्रव्यसंश्रह

जो अशुभ (बुरे) कार्य से दूर होना और शुभ कार्य में प्रवृत्त होना अर्थात् लगाना है उसको चारित्र जानता चाहिये । श्री जिनेन्द्रदेव ने व्यवहारनय से उस चारित्र को ५ ज्ञात, ५ समिति और ३ गुप्तिस्वरूप कहा है ।

सामायिकछेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययथाख्यातमिति
चारित्रम् । —त० सू० ९ अ० १८ सू०

सामान्यपने से एक प्रकार चारित्र है अर्थात् चाहित्रमोह के उपशम क्षय व क्षयोपशम से होनेवाली आत्म विशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है । बाह्य व अभ्यन्तर निवृत्ति अथवा व्यवहार व निष्ठय की अपेक्षा दो प्रकार का है । या प्राण संयम व इन्द्रिय संयम की अपेक्षा दो प्रकार का है । औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का है अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का है । चार प्रकार के यति की दृष्टि से या चतुर्यम की अपेक्षा चार प्रकार का है, अथवा छद्मस्थों का सराग और वीतराग तथा सर्वज्ञों का सयोग और अयोग इस तरह ४ प्रकार का है । सामायिक, छेदोपस्थापना

परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथारूपात् के भेद से ५ प्रकार का है। इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों को दृष्टि से संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त विकल्प रूप होता है।

गुरुरूपदेश से ध्यानाभ्यास

सम्यग्गुरुपदेशोन् समभयस्यन्ननारतम् ।

धारणासौष्ठवाद्युच्चानं प्रत्ययानपि पश्यति ॥ ८७ ॥

अर्थ—समीचीत गुरुओं के उपदेश से निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष, धारणाओं की पदुता, निषुणता, मुकरता या अनाधास सिद्धि से, ध्यान तथा उसके कारणों को भी जानते करा जाता है ॥ ८७ ॥

विशेष—आत्मा के ध्यान में अनुपम शक्ति है। इसके योगी को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, योगी के ध्यान वाले वन में असमय में फलपुष्पों का आना, विरोधी प्राणियों का वैरभाव शान्त हो जाना आदि अतिशयों का बहुशः उल्लेख मिलता है। आत्मा के निर्भल भाव से अतिशय प्रकट हो जाता है। देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं—

‘द्विं विमलसहावे णियतच्चे इन्दियत्थपरिचत्ते ।

जायइ जोहस्स फुडं अमाणसत्तं खण्डेन ॥ ४२ ॥’

अर्थात् इन्द्रियों के विषय पराङ्मुख हो जाने पर आत्मा के निर्भल स्वभाव में जब स्वयं अपना आत्मा ही दिखने लगता है तब योगी की क्षणभर में मनुष्यों में असम्भव ऋद्धियाँ बादि प्राप्त हो जाती हैं।

अभ्यास से ध्यान की स्थिरता

यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्भृत्यपि ।

तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभेताभ्यासवर्तिनाम् ॥ ८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बारचार अभ्यास से महात् शास्त्र भी स्थिर हो जाते हैं अर्थात् बड़े-बड़े शास्त्रों का दृढ़ ज्ञान हो जाता है, वैसे ही अभ्यास करने वालों का ध्यान भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है ॥ ८८ ॥

परिकर्म के बाश्य से ध्यान करणीय

यथोक्तत्त्वलक्षणो ध्याता ध्यातुमुत्सहते यथा ।

तदेव परिकर्मदौ कृत्वा ध्यायतु षोरधीः ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पूर्वकथित लक्षणों वाला ध्याता ध्यान करने के लिए उत्साह करता है, उसी प्रकार धीर बुद्धि वाला व्यक्ति परिक्रम वादि का आशय लेकर ध्यान करे ॥ ८९ ॥

ध्यान करने योगम स्थान-काल-विधि व पदार्थ
शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि ।
स्त्रीपशुबलोषजीवानां लुभ्यनामप्यनोहरे ॥ ९० ॥
अन्यत्र वा कथचिद्देहे प्रशस्ते प्राप्तुके समे ।
चेतनाचेतनाक्षेपध्यानविघ्नविवज्जिते ॥ ९१ ॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा ।
समसृज्यायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥
नासाप्रस्थस्तनिष्ठपैदलोचनं मन्दमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिशहोषनिमुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थितः ॥ ९३ ॥
प्रत्याहृत्याक्षलुटाकास्तदर्थेभ्यः प्रस्थनतः ।
चिता आकृत्य सर्वेभ्यो निरुद्ध्य अयेषवस्तुनि ॥ ९४ ॥
निरस्तनिङ्ग्रो निर्भीतिनिरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायदेवन्तविशुद्धये ॥ ९५ ॥

अर्थ—सूने मकान में अथवा गुफा में दिन में अथवा चाहे रात्रि में, स्त्री, पशु एवं नपुंसक प्राणियों तथा क्षुद्र जीवों के अगोचर स्थान में, दूसरी तरफ कहीं प्रशस्त, प्राप्तुक एवं समतल स्थान में, चेतन एवं अचेतन के द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण ध्यान के विघ्नों से रहित पृथिवीतल अथवा शिलापट्ट पर मुखपूर्वक बैठकर अथवा सीधा एवं लम्बा खड़ा होकर निष्कम्प अंगों वाले शरीर को धारण करता हुआ, नासिका के अग्र भाग पर लगाये गये निश्चल नेत्रों वाला मन्द-मन्द साँसों को लेता हुआ बत्तीस दोषों से रहित कायोत्सर्ग को धारण करे। इन्द्रिय रूपी लुटेरों को उनके विषयों से प्रश्लनपूर्वक हटाकर, सभी पदार्थों से चिन्ता को दूर कर ध्यान करने योग्य वस्तु में अपने को लगाकर, नींद को दूर कर भय एवं आलस्य से रहित होकर लगातार अन्तरात्मा की शुद्धि के लिए स्वरूप अथवा पररूप का ध्यान करता चाहिये ॥ ९०-९५ ॥

निश्चय व व्यवहार ध्यान

निश्चयाद् व्यवहाराच्च ध्यानं द्विविधमागमे ।

स्वरूपालंबनं पूर्वं परालंबनमुत्तरम् ॥ ९६ ॥

अर्थ—निश्चयनय एवं व्यवहारनय के भेद से आगम में दो प्रकार का ध्यान कहा गया है। प्रथम अपने आत्मा के अवलम्बन से और द्वितीय परपदार्थ के अवलम्बन से होता है ॥ ९६ ॥

निश्चय ध्यान आत्मा से अभिन्न और व्यवहार ध्यान भिन्न

अभिन्नमात्ममन्यत्तु भिन्नं तत्त्वाधदुच्यते ।

भिन्ने हि विहिताभ्यासोऽभिन्नं ध्यायत्यनाकुलः ॥ ९७ ॥

अर्थ—आद्य जो निश्चय ध्यान है वह अभिन्न है उसमें स्व तथा पर का एवं ध्यान-ध्याता-ध्येय का तथा कर्त्ता-कर्म-करण-संप्रदानाधिकरण का भेद पाया जाता है। भिन्न (व्यवहार) ध्यान में जिसने अभ्यास किया है वह निराकुल हो अभिन्न को क्या ध्या धा सकता है ॥ ९७ ॥

विशेष—यही व्यवहार ध्यानपूर्वक निश्चय ध्यान बताया गया है घटल पुस्तक १४ में कथन है कि चेतन तथा अचेतन पुरुगल आदि भी ध्येय हैं। केवल ज्ञानानन्द आत्मा ही ध्येय नहीं है।

यह शरीर सम्पूर्ण धातुमय है और सूक्ष्म पुरुगल कर्मों के द्वारा उत्पन्न हुआ है, उसका आत्मा के साथ सम्बन्ध है इनके संयोग से आत्मा द्रव्य-भावरूप कलंक से बनादिकाल से मलिन हो रहा है। इस कारण इसके बिना चित्तारे ही अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं। उन विकल्पों के निमित्त से परिणाम निश्चल नहीं होते। उनके निश्चल करने के लिए स्वाधीन चिन्तवनों से चित्त को वश में करना चाहिए। वह स्वाधीन चिन्तन किसी आलम्बन से ही होता है। प्रारम्भ अवस्था में किसी आलम्बन बिना चित्त स्थिर नहीं होता। अतः अरहन्तादि के आलम्बनपूर्वक ध्यान करना व्यवहार ध्यान है। इसके अनन्तर आगम अभिन्नता रूप निश्चय ध्यान की सिद्धि होती है।

आज्ञापायो विपाकं च संस्थानं भुवनस्य च ।

यथागममविक्षिप्तचेतसा चिन्तयेऽमूलिः ॥ ९८ ॥

अर्थ—मूलि आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और लोक-

संस्थान (नामक धर्मध्यानों) का आगम के अनुसार आकुलता रहित चित्त से चिन्तन करे ॥ ९८ ॥

विशेष—आज्ञा, अपाय, विषय और संस्थान इनकी विचारणा के लिये मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है । अन्यन्त, सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को विषय करने वाला आगम है, वर्णोंकि प्रत्यक्ष और अनुभान के विषय से रहित सात शब्दों करने गोप्य पदार्थ में एक आगम की ही गति है । उसे आज्ञा कहते हैं । धब्ल पुस्तक १३, पृष्ठ ७१ पर कहा है कि जो सुनिष्पुण है, अनादि निधन है, जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों द्वारा सेवित है, अपूर्य है, अमित है, अजित है, महान् अर्थ वाली है, महानुभाव है, महान् विषय वाली है, निरवद्य है, अनिष्पुण-जनों को दुर्जय है, नष्टभञ्जों तथा प्रमाण से गहन है, ऐसी जग के प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए । संसार में दुःखों से संतप्त प्राणियों के दुःखों का निवारण का चिन्तन रूप अपाय विचय का उपदेश है । शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसार रूपी बावर्त की विचित्रता का चिन्तवन करने वाले मुनिराज के जो ध्यान होता है उसे विषय कहते हैं । यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भव के विषय में विशिष्ट चिन्तनपूर्वक होता है । तीनों लोकों के आकार का प्रमाण का तथा उसमें रहने वाले जीव-अजीव तत्त्वों का, उनकी आयु आदि का बार-बार चिन्तन करना संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान है ।

ध्येय के भेद

नाम च स्थापनं द्रव्यं भावहेति चतुविधम् ।

समस्तं व्यस्तमप्येतद् ध्येयैवात्मवेदिभिः ॥ ९९ ॥

अर्थ—अध्यात्म के ज्ञाताओं के द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार प्रकार के ध्यान योग्य पदार्थों का समस्त रूप से एवं व्यस्त (अलग-अलग) रूप से ध्यान किया जाना चाहिये ॥ ९९ ॥

विशेष—ध्येय का लक्षण—ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तगरिणामकारण—जो अशुभ तथा शुभ परिणामों का कारण हो उसे ध्येय कहते हैं ।

(चा० सा० १६७/२)

ध्येय के भेद—भूतमर्थभिधारं च प्रत्ययहेत्यदस्त्रिधा । शब्द, अर्थ और ज्ञान इस तरह तीन प्रकार का ध्येय कहलाता है ।

(महा० पु० २१/१११)

धोर हे भेडँ का उड़ान

वाच्यस्य वाचकं नाम प्रतिमा स्थापना मता ।

गुणपर्यगद्वयं भावः स्थाद् गुणपर्ययौ ॥१००॥

अर्थ—वाच्य के वाचक को नाम कहते हैं। प्रतिमा स्थापना कही गई है। गुण एवं पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है तथा गुण और पर्याय भाव हैं ॥१००॥

धर्म्यध्यान के दस भेद पाये जाते हैं—अपादविचय, उपादविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विषाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय । (चा० सा०)

संस्थानविचय धर्म्यध्यान पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का कहा है—

पदस्थंभन्त्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं ।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरञ्जनम् ॥

(४८ / प्र० स० टीका में उद्धृत)

मन्त्रवाक्यों में स्थिति पदस्थ ध्यान है, निजात्मा का चित्तवत् पिण्डस्थ ध्यान है, सर्वचिद्रूप का ध्यान और निरञ्जन का (सिद्ध परमात्मा अथवा त्रिकाली शुद्धात्मा का) ध्यान रूपातीत ध्यान है ।

पदस्थध्यान

पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।

तत्पदस्थं मर्ते ध्यानं विचित्रनयपारणः ॥

एक अक्षर को आदि लेकर अनेक प्रकार के पञ्चपरमेष्ठो वाचक पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं । (वसु० शा० ४६४)

पदस्थध्यान के योग्य मूलमन्त्रों का निर्वेश—

एकाक्षरी मन्त्र—(१) “अ” (२) प्रणवमन्त्र “ॐ” (३) अनाहतमन्त्र “है” (४) माया वर्ण ह्रीं (५) ल्लीं (६) श्रीं ।

यो अक्षरी मन्त्र—(१) “अहै” (२) सिद्ध ।

तीन अक्षरी मन्त्र—(१) ॐ नमः (२) ॐ सिद्ध (३) सिद्धेभ्यः ।

चार अक्षरी मन्त्र—(१) अरहंत / अरिहंत ।

पञ्चाक्षरी मन्त्र—(१) अ सि आ उ सा (२) अ हां हीं हूं हों हः
 (३) णमो सिद्धाण (४) नमः सिद्धेभ्यः ।

छः अक्षरी मन्त्र—(१) अरहंत सिद्ध (२) अ॒ नमो अहंते (३) अहंदृष्टो
 नमः (४) अहंदृभ्यः नमोस्तु (५) अ॒ नमः सिद्धेभ्यः (६) नमो अहंतिसद्वेभ्यः ।

सप्ताक्षरी मन्त्र—(१) णमो अरहंताण (२) नमः सर्वं सिद्धेभ्यः ।

अष्टाक्षरी मन्त्र—नमोऽहंत्परमेष्ठिने ।

१३ अक्षरी मन्त्र—अहंत् सिद्धसयोगकेवली स्वाहा ।

१४ अक्षरी मन्त्र—अहंतिसिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः ।

१५ अक्षरी मन्त्र—णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण ।

णमो उवज्ञायाण, णमो लोए सब्बसाहूण ॥

पणतीस सोलच्छप्तणचदुग्गमेणं च जबहृ ज्ञाएह ।

परमेष्ठिवाच्याणं अण्णं च गुल्वएसेण ॥

पञ्चपरमेष्ठी वाचक पेंटीस, सोलहु, छहु, पाँच, चार, दो और एक
 अक्षररूप मन्त्र हैं उनका जाप करने से असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती
 है नवीन कर्मों का आखब रुक्कर ध्यान की सिद्धि होती है ।

राजपंडित बंशीधरकृत मानसागरी पढ़ति में महामन्त्र का ध्यान
 कैसे ? सुन्दर चित्रण लिखा है—

साथक का शूल लक्ष्य है—“आत्म जागरण” । आत्म जागरण का
 अर्थ है—निज का जागरण, आनन्द का जागरण, शक्ति का जागरण,
 अपने परमात्म स्वरूप का जागरण, अहंतस्वरूप का जागरण ।

ममस्कार-महामन्त्र—की साधना का समग्र दृष्टिकोण है—आत्मा का
 जागरण । पूरी चेतना को जगाना, शक्ति के स्रोतों का जाग्रत करना,
 आनन्द के महासागर में अवगाहन करना । महामन्त्र को आराधना से
 निर्जरा होती है, कर्मक्षय होता है आत्मा की विशुद्धि होती है । इस बात
 को मानकर जब धाहें तब इसका जाप कर सकते हैं । जब-जहाँ-जैसे भी
 हो चलते-फिरते-उठते-नैठते हर क्षण इसका जाप कर सकते हैं । णमोकार
 मन्त्र के जाप्य की अनेक विधियाँ हैं जो सभी पदस्थ ध्यान में सम्मिलित
 की जाती हैं । श्री घबलराज महाप्राप्ति में आचार्यश्री ने इस जाप्य
 की तीन विधियाँ वर्णित की हैं—१. पूर्वानुपूर्वी २. पश्चातानुपूर्वी
 ३. यथातव्यानुपूर्वी । यथा—

दूसरोंनुपूर्वी	पांचवात्मकानुभूतिर्थी
णमो अरहंताणं	णमो लोए सञ्चसाहूणं
णमो सिद्धार्थं	णमो उबज्ज्ञायाणं
णमो आइरियाणं	णमो आइरियाणं
णमो उबज्ज्ञायाणं	णमो सिद्धार्थं
णमो लोए सञ्चसाहूणं ।	णमो अरहंताणं ।

यथात्मकानुपूर्वी—

णमो अरहंताणं
णमो लोए सञ्चसाहूणं
णमो आइरियाणं
णमो सिद्धार्थं
णमो उबज्ज्ञायाणं

अथवा

णमो सिद्धार्थं
णमो उबज्ज्ञायाणं
णमो अरिहंताणं
णमो लोए सञ्चसाहूणं
णमो आइरियाणं

तात्पर्य जैसे लड्डू को जिधर से भी खाओ भीठा ही भीठा होता है उसी प्रकार यथात्मकानुपूर्वी विधि में णमोकार मन्त्र के पाँच पदों में से कोई भी पहले उठा लीजिये । शर्त इतनी ही है कि इयता ध्येय के प्रति सजग रहे । पाँच से अधिक पद न हों व पाँच से कम भी न हो ।

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

उपर्युक्त चित्र इस यथात्मकानुपूर्वी विधि का एक उदाहरण है । अंकों

के अनुसार पदों को उच्चारण ध्याता करे । अंक १. णमो अरहंताणं, अंक २. णमो सिद्धाणं, अंक ३ णमो आङ्गिरियाणं, अंक ४. णमो उवज्ञायाणं और अंक ५. णमो लोए सब्बसाहूणं के प्रतोक हैं । ध्याता इस विधि से जाप्य करता है तो मन की एकाग्रता को प्राप्त कर अशुभकर्मों को असंख्यातगुणी कर्म निर्जन कर मुक्ति का भाजन बनता है ।

यह महामन्त्र १८४३२ प्रकार से बोला जा सकता ।

अट्टेव य अटुसया, अटुसहस्र अटुलव्व अटुकोडीओ ।

जो गुणइ भत्ति जुतो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥

जो भव्यजीव ८ करोड़, ८ लाख, ८ हजार, ८ सौ, ८ बार इस अनादि निवनमन्त्र का जाप करता है वह शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

नवकार इवकक्षरं पावं कडई सत्त साप्तराणं ।

पन्नासं च पण्णं सापर पणासया समरगेणं ॥ १ ॥

जो गुणई लक्खमेण, पूएइ जिणनमुक्कारं ।

तित्यधर नाम गोअं, सो बंधइ णत्थिसन्देहो ॥ २ ॥

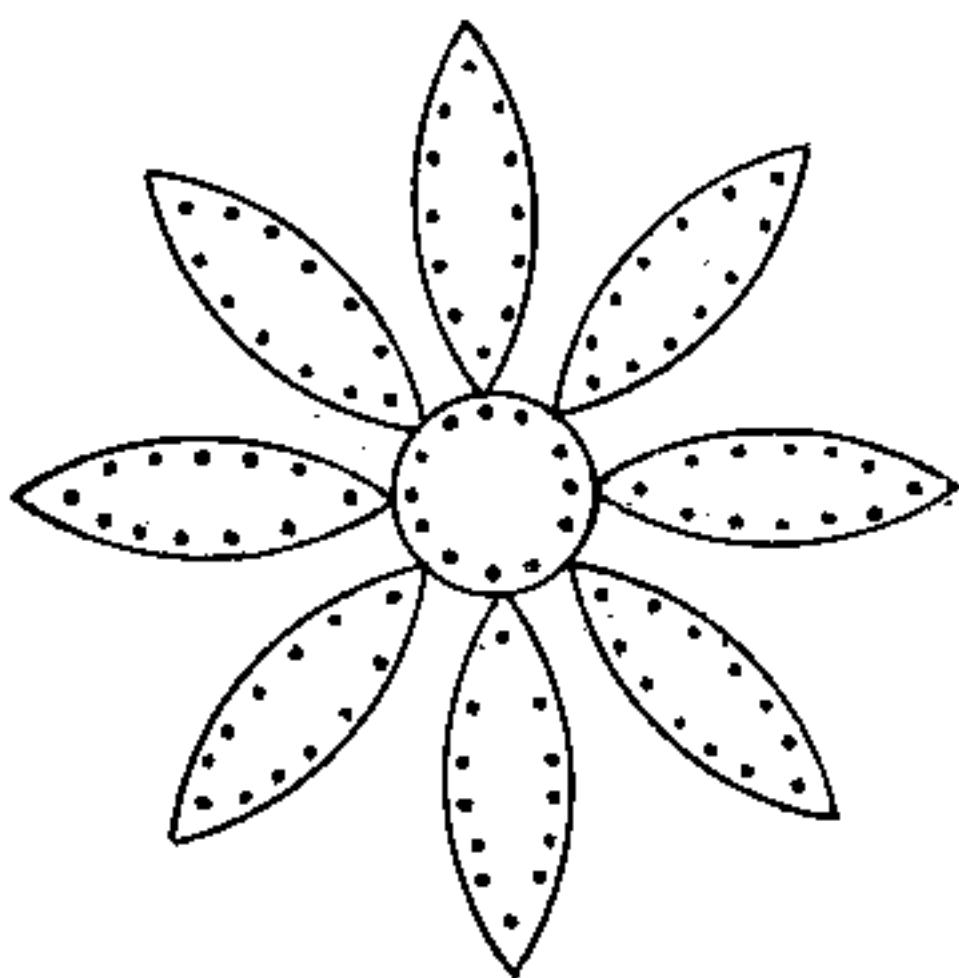
णमोकार मन्त्र के एक अक्षर का भी भक्तिपूर्वक नाम लेने से सात सागर के पाप कट जाते हैं, पाँच अक्षरों का पाठ करने से पचास सागर के पाप कट जाते हैं तथा पूर्ण मन्त्र का उच्चारण करने से पाँच सौ सागर के पाप कट जाते हैं ।

जो इवेतपुष्पों से णमोकार मन्त्र का एक लाख जाप्य करता है वह तोर्यकर नामकर्म का बन्ध करता है इसमें कोई सन्देह नहीं चाहिए चाहिये ।

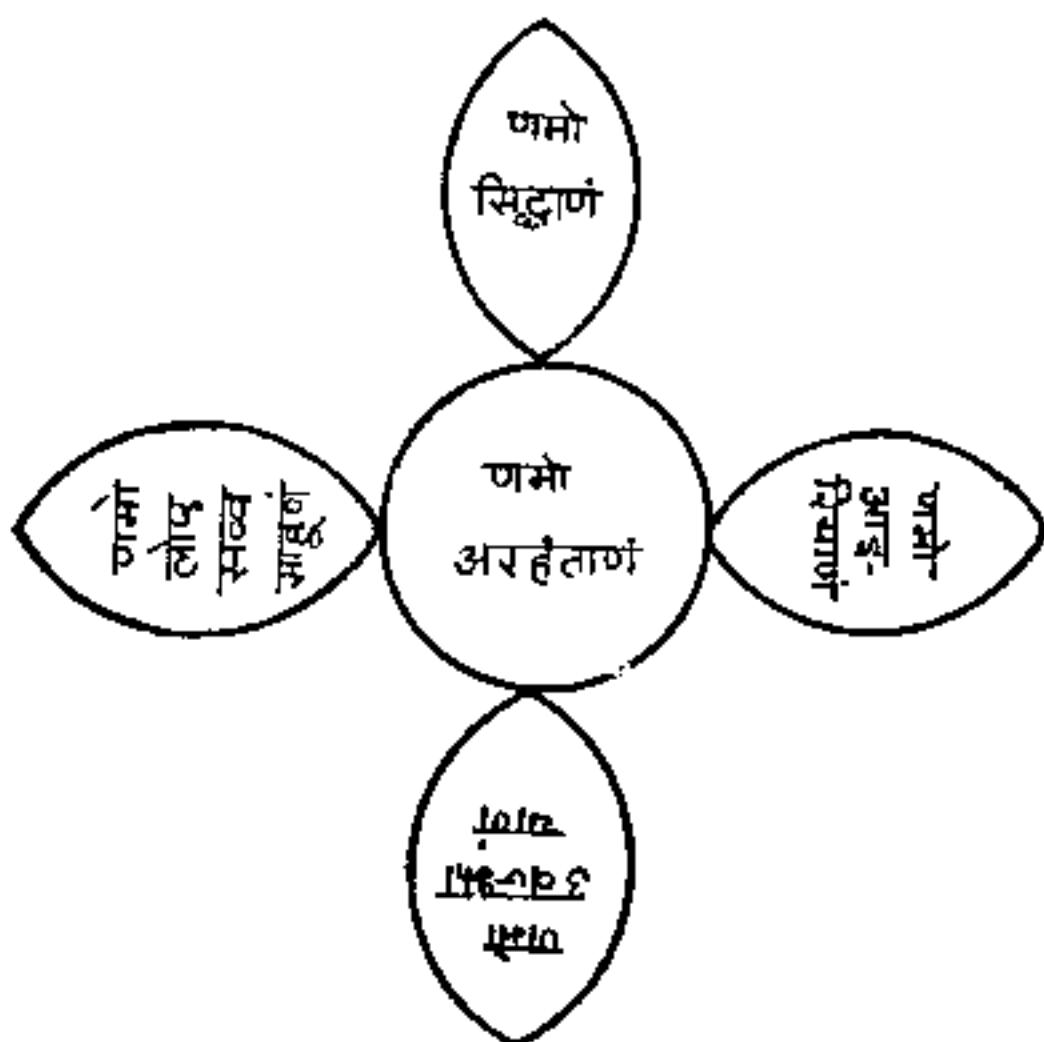
णमोकार मन्त्र को इवासोच्छ्वास में जप करना सर्वोत्तम बताया है । एक णमोकार को तीन इवासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये । यथा—णमो अरिहंताणं में इवांस खींचना, णमो सिद्धाणं में इवांस छोड़ना, णमो आङ्गिरियाणं में इवांस खींचना, णमो उवज्ञायाणं में इवांस छोड़ना तथा णमो लोए में इवांस खींचना सब्बसाहूणं में इवांस छोड़ना । इस प्रकार कुंमक-रेचक द्वारा एक बार णमोकार मन्त्रोच्चारण में तीन इवासोच्छ्वास पूरे लगते हैं । यह विधि इष्ट सिद्धि, कृदि, वृदि को कर ध्याता को गम्भीर की ओर ले जाती है ।

इन सब विधियों के अलावा कमल जाप की विधि भी अपने आप में
महत्वपूर्ण है यथा—

कमल जाप



श्वेत कमल में ८ पांखुड़ियाँ हैं। एक-एक पंखुड़ी में १२-१२ पीत बिन्दु
हैं। कणिका में १२ बिन्दु हैं। $8 + 1 \times 12 = 108$ जाप पूरे हो जाते।
चञ्चल मन स्थिर करने के लिये व ध्यान की सिद्धि के लिये यह कमल
जाप बहुत लाभकारी है। यह कमल हृदय में बनाकर ध्याता को ध्यान
करना चाहिये।

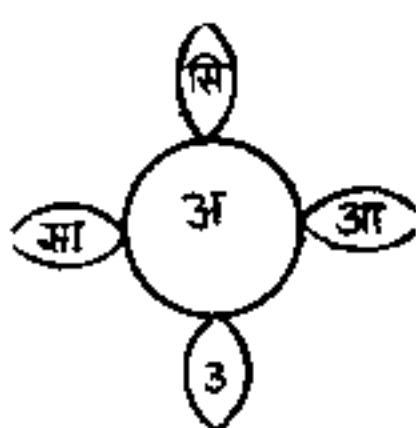


हृदय में चार पांखुड़ी का कमल बनाइये। पश्चात् प्रत्येक मन्त्रोच्चारण के साथ उस-उस पंखुड़ी में स्थित उन-उन परमेष्ठों की ओर दृष्टि लगाइये। पंचपरमेष्ठियों को इनमें विराजमान कर जाप्य कोजिये।

मूल मन्त्रों की कमलों में स्थापना विधि

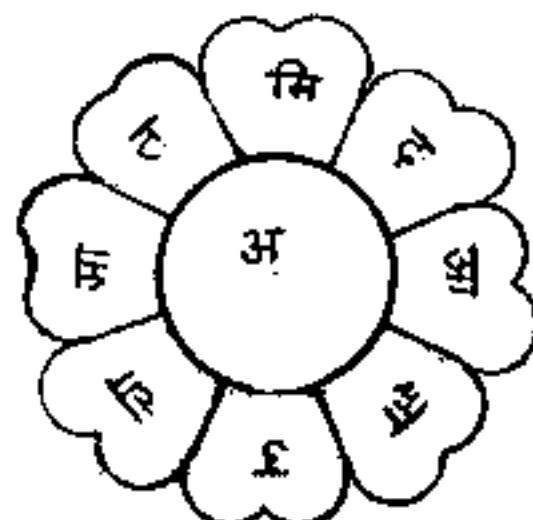
१. स्वर्ण कमल की मध्य कणिका में “ह” की स्थापना करके उसका स्मरण करना चाहिये।

२. चतुर्दल कमल की कणिका में अतथा चारों पत्तों पर कल से अ सि आ उ सा को स्थापना करके पंचाक्षरी मंत्र का चितन करे।



३. अष्टदल कमल पर कणिका में “अ” चारों दिशाओं वाले पत्तों पर सि, आ, उ, सा तथा विदिशाओं वाले पत्तों पर दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप के प्रतीक द, शा, चा, त की स्थापना करे।

(वसु० जा०)



नेत्रहृन्दे श्वरणयुग्मे नासिकाये ललाटे,
वक्ष्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे,
तेष्वेकस्मिन् विगतविषय चित्तमालम्बनीयम् ॥

दो नेत्र, श्वरणयुग्म, नासिका का अप्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृदय, तालु, भौंह ये दस स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये आलम्बन रूप कहे गये हैं।

इलोकवार्तिकाकार आचार्यश्री ने मन्त्रों का जाप चार प्रकार से किया जा सकता है, इसके लिये बहुत सुन्दर कहा है—

“चतुर्विधा हि वाग्वैखरीमध्यमापश्यन्ती सूक्ष्माश्चेति ।”

(१) वैखरी (२) मध्यमा (३) पश्यन्ति (४) सूक्ष्म।

पुनः-पुनः उन्हीं शब्दों को बोलना जप है—“जपः स्पादक्षरावृत्तिः”

१. वैखरी—जैसे जोर-जोर से बोलकर यमोकार मन्त्र का जप करें जिसे दूसरे लोग भी सुन लें वह वैखरी विधि कहलाती है। इसके शब्द बाहर बिखर जाते हैं। इस तरह के जाप में केवल चार आना लाभ होता है बाहर आने जाप बिखर जाता है।

२. मध्यमा—इस विधि में होठ नहीं हिलते किन्तु अन्दर जीभ हिलती रहती है। आशाधरसूरि ने इसे उपाख्य जाप कहा है। इसमें शब्द मुँह से बाहर नहीं आते।

३. पश्यन्ति—इस विधि में न होठ हिलते हैं और न जीभ हिलती है,

इसमें मात्र मन में ही चिन्तन करते हैं। इस जाप में सब संकल्प-विकल्प छोड़कर आत्मा स्वाभिमुख हो जाता है।

४. सूक्ष्म—धन में जो णमोकार मन्त्र का चिन्तन था वह भी छोड़ देना सूक्ष्म जाप है। जहाँ उपास्य उपासक का भेद समाप्त हो जाता है। आत्मा परमात्मा का भेद समाप्त हो जाये, उसी का आधार यह सूक्ष्म जप है। अर्थात् जहाँ मंत्र का अवलम्बन छूट जाए तब ही सूक्ष्म जप है जैसा कि पूज्यपाद ऋचार्यश्री ने समाधिशतक में कहा है—

यः परमात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्यो नान्यः करिष्वदितिस्थितिः ॥ ३१ ॥

जप शब्द में दो अक्षर हैं—ज + प

ज = जकारो जन्म विच्छेदः

प = पकारो पापनाशनः तस्माज्जप इसि प्रोक्त जन्मपापविनाशकः ।

जप को पदस्थ ध्यान के ही अन्तर्गत माना गया है। कृ. ज०८८८ स.८८१

जप या पदस्थ ध्यान जन्म-मरण की संतति व पापसमूहों के लिये किया जाता है। सूक्ष्म जप निवृत्ति प्रधान है। यहाँ ध्यातात्म्येय में अभेद, अद्वैतभाव प्रगट होने लगता है……ध्याता स्व में स्व की सौज में तल्लीन होने का प्रकट पुरुषार्थ कर पुकारने लगता है—

केवलसत्ति सहावो सोऽहं इदि चितए णाणी ।

कवि रत्नाकर लिखते हैं—

तत् जिनमन्दिर, मनकमलासन रथावरी चिन्मयतुंग यज जिनपद कमला निःसंग ।

मेरा शरीर ही जिनमन्दिर है, मन वेदी है और उस पर मेरा आत्मा विराजमान है वही परमात्मा है, भगवान् है, उसके सामने बैठकर मैं उसी की पूजा करता हूँ।

उस आत्माल्पी भगवान् का अभिषेक कैसे करें इसके लिये लिखा है—

ज्ञानयंगाजलि क्षालोनिनिर्मल, संचितपातक भंग यज जिनपद कमला निःसंग । (गुरुवाणी—आ० विद्यानन्द जी)

अर्थात् अपने सम्यग्दर्शनरूपी जल से अपनी आत्मा का अभिषेक करें। यही सच्चा अभिषेक होगा ।

श्री योगीन्द्रदेव ने अमृताशीति ग्रन्थ में पदस्थ ध्यान को महिमा का चित्रण करते हुए लिखा है—

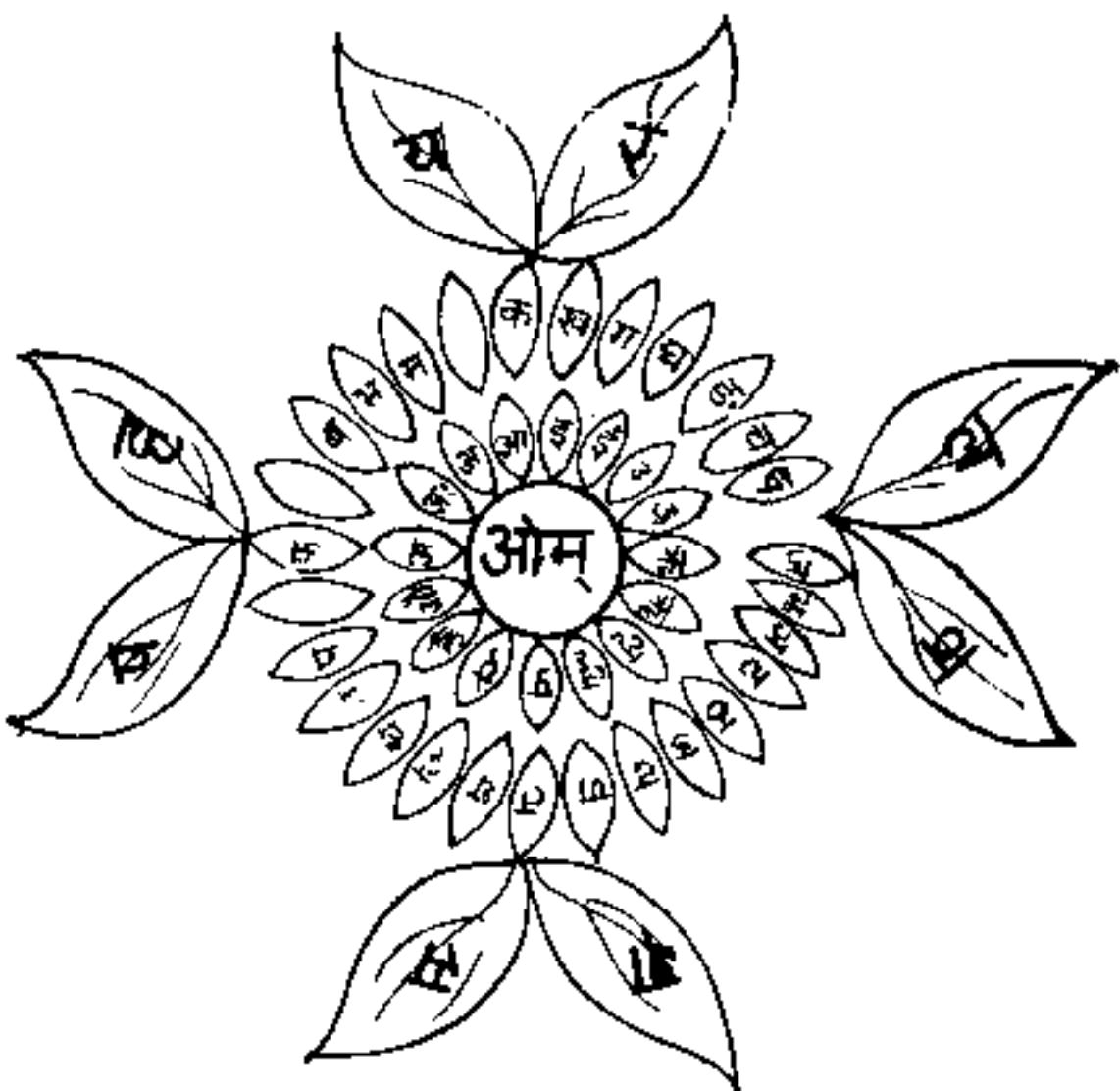
यं निष्कलं सकलपक्षयकेवलं वा,
सन्तः स्तुवन्ति सततं समभावभाषः ।
वाच्यस्य तस्य वरवाचकमंत्रयुक्तो,
हे राज्ञः श. निष्ठुरीं विश निर्विशक ॥ ३२ ॥

अशरीरी सिद्ध की तथा अविनश्वर केवलज्ञानधारी शरीर सहित अरहन्त की साम्यभावधारी सन्तपुरुष-साधुगण की जो निरन्तर स्तुति करते हैं उस वाच्यरूप सिद्ध वा अहंत की उसके वाचक श्रेष्ठ मन्त्र सहित आराधना करते हैं वे मोक्षमार्ग के पथिक निर्भय हो मुक्तिपुरी में प्रवेश करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि जो अष्टगुणभंडित सिद्ध, परमीदारिक शरीर व अनंत चतुष्टय युत अहंत तथा समता रस के आस्वादी अहंतों का जो ध्यान करते हैं अथवा उनके वाचक मंत्र णमो अरहंताण-णमो सिद्धाण का आश्रय ले जाय करता हुआ एकलयता को प्राप्त करता है तथा एकाग्र होने पर उसी रूप अपने को मानता है “सोऽहं, सोऽहं” को ध्याते हुए सकार का भी ख्याग कर अहं रूप हो तन्मय हो जाता है । अतः हे मुक्तिराही, प्रथम तुम अरहंत-सिद्ध वाचक भन्त्रों का अवलम्बन लो, फिर तदरूप हो पदस्थ ध्यान के द्वारा निजस्वरूप में लीन हो जाओ, मुक्तिपुरी में प्रवेश पाओ ।

प्रथम मन्त्र की ध्यान विधि “ओम्”

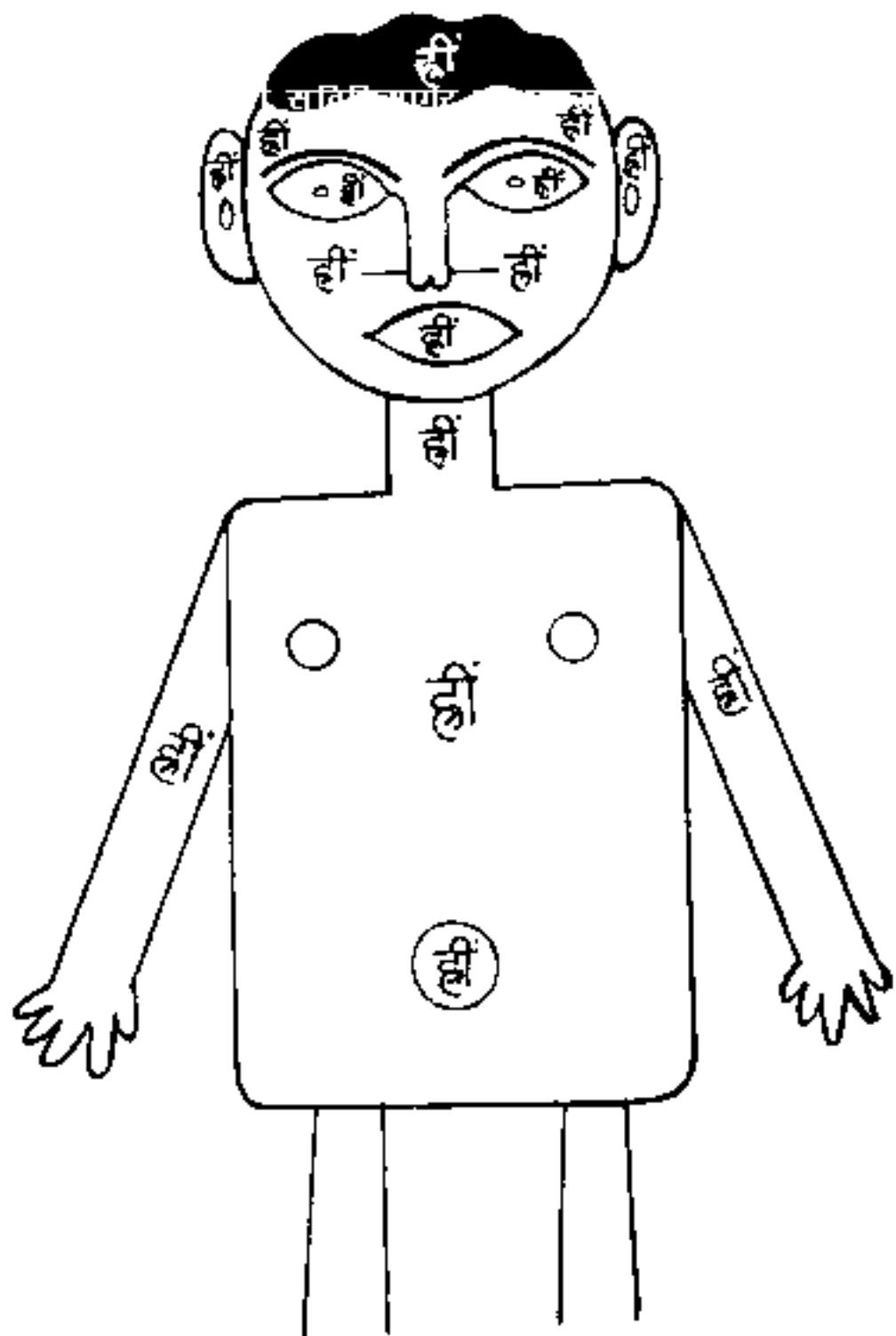
ध्यान करने वाला ध्याता, संयमी हृदय कमल की कणिका में स्थिर और स्वर व्यञ्जन असरों से बेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अस्थन्त तुष्टय देव और देवयों के इन्द्रों से पूजित तथा झारते हुए मस्तक में स्थित चन्द्रमा की लेखा के (रेखा के) अमृत से आद्रित महाप्रभावसम्पन्न कर्मरूपी बन को दग्ध करने के लिये अग्नि समान ऐसे महातरव, महाबीज महामन्त्र महापदस्वरूप तथा शरद के चन्द्रमा के समान गौर वर्ण के धारक “ओं” को कुम्भक प्राणायाम से चिन्तन करें ।

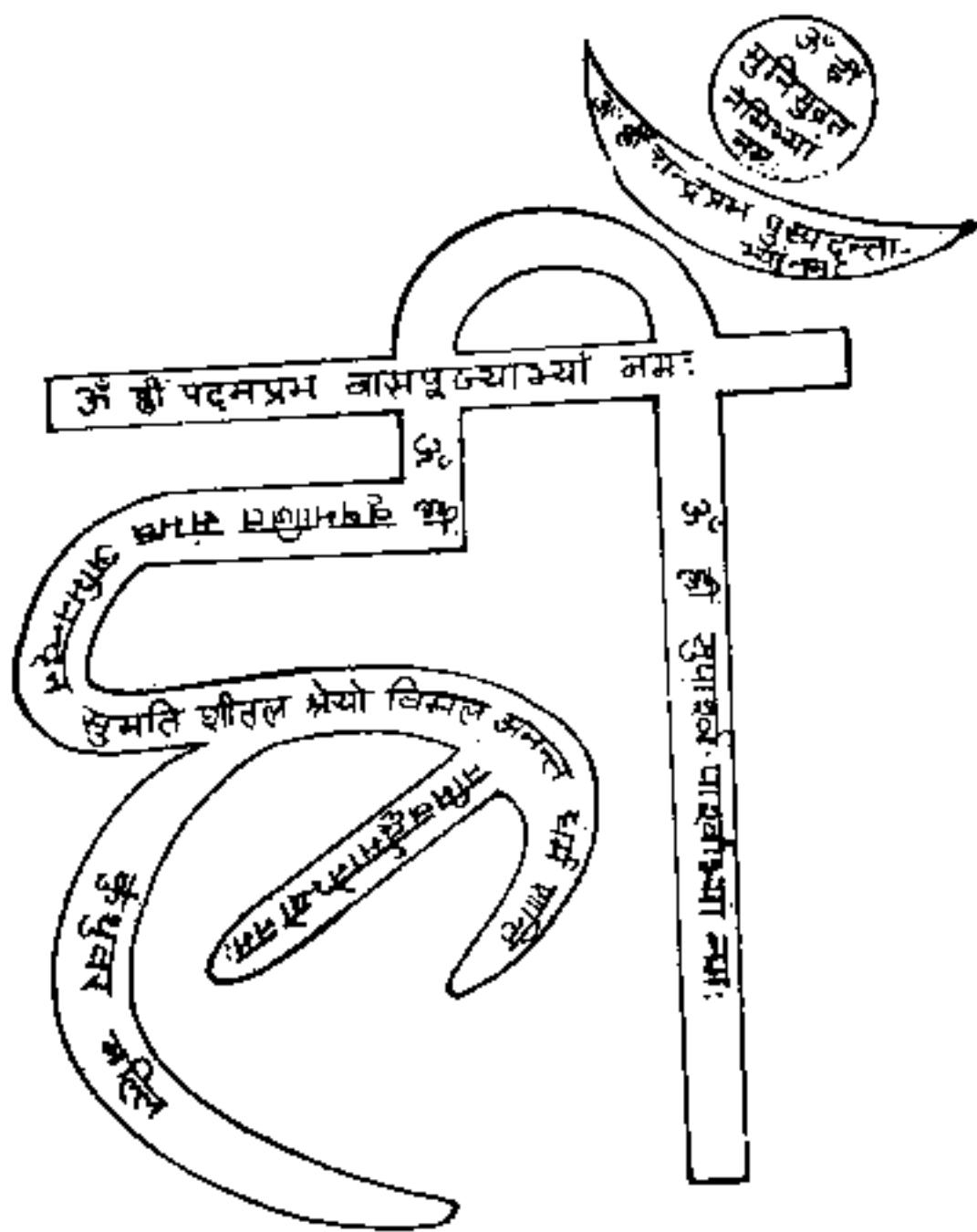


माया बीज ह्रीं की ध्यान विधि

माया बीज ह्रीं वक्षर को स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उच्चल्ल
प्रभामण्डल के मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमल में संचरता
हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिका के ऊपरी तिष्ठता हुआ, तथा कभी-
कभी उसकी कर्णिका के ऊपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी कमल के
आठों दलों पर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षणमर में आकाश में चलता
हुआ, मन के अज्ञान अन्धकार को दूर करता हुआ, धमृतमयी बल से चूता
हुआ तथा शालुआ के छिद्र से गमन करता हुआ तथा भोहीं की लताओं

में स्फुरायमान होता हूँवा, ज्योतिर्मय में समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका
ऐसे माया वर्ण का चिन्हन करें ।





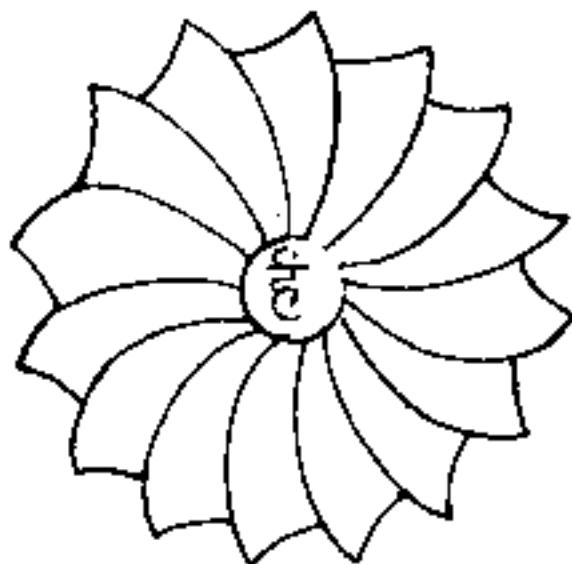
इस ह्रीं बीजाक्षर में समस्त वृषभादि चौबोस जिनोत्तम अर्थात् लीर्थकर अपने वर्णों से सहित होकर विराजमान हैं। यथा ह्रीं बीजाक्षर को नादकला चन्द्रमा के आकार की है, सफेद वर्णवाली है इस नादकला में ल्वेत वर्ण वाले चन्द्रप्रभ पुष्पदन्त भगवान् का ध्यान करें। बिन्दु श्याम वर्ण की है इसमें श्याम वर्ण मुनिसुखत-नेमिनाथ भगवान् का ध्यान करें। कला अर्थात् भस्तक लाल रंग की है इसमें लालवर्ण पदमप्रभ-वासुपूज्य लीर्थकर का ध्यान करें। हृकार सब तरफ से स्वर्ण के समान पीत वर्ण का है इसमें पीतवर्ण वृषभ-अजित-संभव-अभिनन्दन-सुमति-शीतल-शेयांस-विमल-

अनन्त-धर्म शान्ति-कुम्भ-अर-मल्ल-नमि और महावीर भगवान् का ध्यान करें। मस्तक में सम्मिलित ईकार विशिष्ट नीलवर्ण का है। इसमें नीलवर्ण सुपाश्वर्णाथ-पाश्वर्णाथ भगवान् का ध्यान करें। इस प्रकार चौबोस तीर्थ्यकर का वाचक इस ह्रीं का जो ध्यान करता है वह सर्वेष्ट की प्राप्ति कर सर्वरीणोपदेव को शान्त कर अविनाशी सुख को प्राप्त करता है।

मन्त्रों व वर्णमातृका को ध्यान विधि

अनाहत मन्त्र "है" की ध्यानविधि

१—हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कमल के मध्य में कर्णिका पर विराजमान, मल तथा कलंक से रहित शरद क्रतु के पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गोर वर्ण के धारक आकाश में गमन करते हुए तथा दिशाओं में होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्र के सदृश हैं मन्त्रराज का स्मरण करें।



फूल वीतवर्ण
"है" व्येतवर्ण

थैर्य का धारक योगी कुम्भक प्राणायाम से इस मन्त्रराज को औह की लताओं में स्फुरायमान होता हुआ मुखकमल में प्रवेश करता हुआ, तालुओं के छिद्र से गमन करता हुआ तथा अमृतमय जल से जलता हुआ देखे।

नेत्र की पलकों पर स्फुरायमान होता हुआ, केशों में स्थित करता हुआ तथा ज्योतिषियों के समूह में अपता हुआ, चन्द्रमा के साथ स्पर्द्धा करता हुआ देखे।

दिशाओं में सेंचरता हुआ, आकाश में उछलता हुआ, कलंक के समूह को छेदता हुआ, संसार के भ्रम को दूर करता हुआ तथा परम स्थान (मोक्षस्थान) को प्राप्त करता हुआ ध्यावे।

ध्यान करने वाला इस मन्त्राविषय को अन्य किसी की शरण न लेकर, इस ही में साक्षात् तल्लीत मन करके, स्वप्न में भी इस मन्त्र से च्युत न हो ऐसा दृढ़ होकर ध्यावै ।

ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्र के ध्यान के विधान को जानकर मुनि समस्त अवस्थाओं में स्थिर स्वस्य सर्वथा नासिका के अग्रभाग में अथवा भौंहलता के मध्य में इसको निश्चल धारण करे ।

तत्पश्चात् क्रम से (लखने योग्य वस्तुओं से) छुड़ाकर, अलक्ष्य में अपने मन को धारण करते हुए, ध्यान के अन्तरंग में अद्यत तथा इन्द्रियों के अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है ।

(शानार्थ सर्ग २९)

अहं का ध्यान

अहं के आदि में अ और अन्त में ह और मध्य में रेफ है तथा बिन्दु से सञ्चित है इस प्रकार "अ र ह स" चार शब्द से मिलकर अहं तत्त्व निष्पत्त होता है प्रथम अवस्था में हृथाक्षर रूप "अहं" का ध्यान किया जाता है । पुनः अभ्यास होने पर पिण्डरूप ध्यान करे । इसमें भी अभ्यस्त होनेपर चन्द्रसमप्रभायुक्त केवल मात्र हृकार वर्ण का ध्यान किया जाता है । संयुक्त वर्णों के ध्यान में व्वनि है परन्तु वर्णमात्र का चिन्तन व्वनिरहित हो जाता है उस समय ध्यानों एक अलोकिक अनुभूति मात्र करता है इसी को "अनाहत नाद" कहा है । यह अनहद नाद उच्चारण योग्य नहीं रहता । आचार्यश्री कहते हैं कि यह रहस्यमूलक "तत्त्व" गुरुप्रसाद से ही प्राप्त होना सम्भव है । योगशास्त्रों में इसका क्रम बतलाते हुए लिखा है कि प्रथमावस्था में अ, ह, रेफ और बिन्दु का पृथक्-पृथक् चिन्तन करे । पुनः क्रमशः इनका संयोग करते हुए विचारे, पिण्डरूप अहं होनेपर इसे ध्यानकेन्द्र बनावे । अन्त में "ह" वर्ण मात्र रह जावे अर्थात् "अनाहत" नाद में लीन होने का अभ्यास करे ।

(अमृताशोत्रि/१६ इलोक अनुवादिका—ग० आ० विजयामतीजी)

अ वर्ण—कनकवर्णमय चतुभुजालंकृत अवर्ण का नाभिमंडल में चिन्तन करे ।

ष वर्ण—कनकवर्णमय चतुभुजालंकृत, सर्वभिरणभूषित "ष" वर्ण का चिन्तन हृदयकमल में इष्टसिद्धि के लिए करें ।

ठ वर्ण—रक्ताम्बराभरणभूषित "ठ" वर्ण का भोंह के मध्य में चिन्तन करें । यह सर्व शान्तिविधायक दोज मन्त्र है ।

ह वर्ण—प्रसन्न हृदय होकर सर्वभिरणभूषित श्वेतवर्ण वाले ह बीज मन्त्र का हृदय कमल में स्थापन कर चिन्तन करें।

क बीज—क बीज मन्त्र का जो सोलह भुजाओं में अलंकृत हेम वर्णमय ध्यान करें।

सकल स्वरों का ध्यान

शुभ्र वर्ण से सुशोभित, सर्वभिरणभूषित शाकिनी-ढाकिनी, भूत-पिशाच-व्यन्तर-राक्षस-ग्रहयूथ, छेदन-भेदन-ताउनकर्म में समर्थ १६ स्वरों का सदैव ध्यान करें।

ॐकार का ध्यान

पाँच वर्णों से सुशोभित अनन्तचतुष्टय लक्ष्मी का प्रदाता ॐ सदा ध्येय है।

ॐकारं दिग्दु संयुक्तं तिळं ध्यावति चेतिमः ।

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

समस्त विष्णों की शान्ति के लिये “क्षी, ल, व और र” बीजाक्षरों का ध्यान करें। इनमें क्षी, व, ल हैं मर्वणमय हैं। ल चतुर्भुजालंकृत है, व सोलह कलायुक्त है तथा र भी सोलह कलायुक्त है।

(मूल्युक्तव विधान)

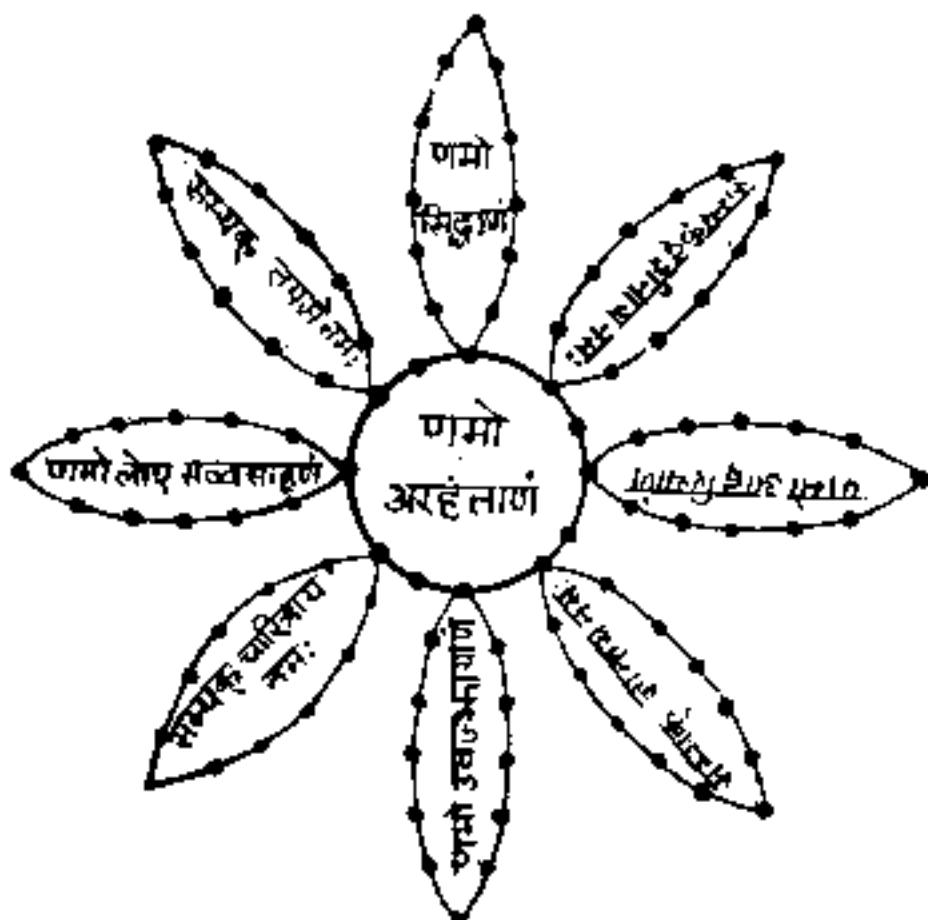
आत्मा व अष्टाक्षरी मन्त्र की ध्यान विधि

आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रों से पूर्ण कमल में श्ले प्रकार स्थापित और अस्पन्त स्फुरायमान घोड़म-ऋतु के सूर्य के समान देहोप्यमान आत्मा का स्मरण करें।



प्रणव है आदि में जिसके ऐसे मन्त्र को पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिणारूप एक-एक पत्र पर अनुक्रम से एक-एक अक्षर का चिन्तन करें। वे अक्षर ॐ नमो अरहंताणं थे हैं।

कमल जाप
पौर परमेष्ठी चार आराधना



इस कमल में ८ पंखुडियाँ हैं। बोच में कर्णिका है। एक पांखुडी और कर्णिका में १२-१२ पीतविन्दु हैं। तथा पंचपरमेष्ठी व चार आराधना वाचक ती संब्र हैं। ती मंत्रों को बारह-बारह बार उच्चारण करने से एक जाप्य (माला) पूरा हो जाता है।

$$12 \times 9 = 108 = \text{णमो अरहंताणं} - 12$$

णमो सिद्धाणं—१२

सम्यक् दर्शनाय नमः—१२

णमो आइरियाणं—१२

सम्यक् ज्ञानाय नमः—१२

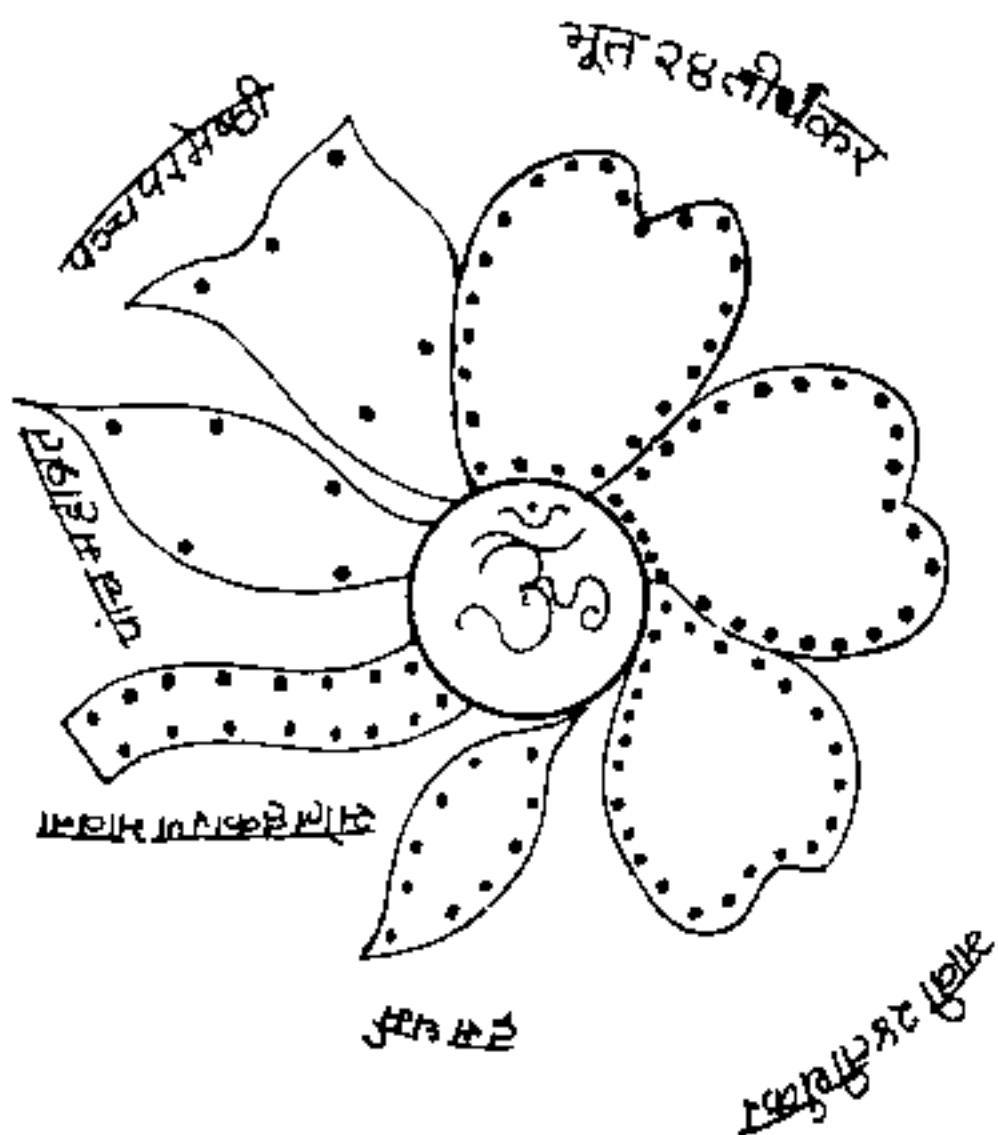
णमो उवज्ञायाणं—१२

सम्यक् चारित्राय नमः—१२

णमो लोए सञ्चसाहूणं—१२

सम्यक् तपसे नमः—१२

$\overline{= 108}$



भूतकालीन २४ तीर्थकरों के—२४

वर्तमान कालीन २४ ती०—२४

अविष्यत्काल २४ ती०—२४

धर्म के १०—१०

भावना १६—१६

पौच महाद्रत के—९

पौच परमेष्ठी के—९

—१०८

इस प्रकार जाप्य से पदस्थ ध्यान की सिद्धि होती है।

पदस्थ ध्यान



प्रणव, शून्य व अनाहृत इन तीन अक्षरों की ध्यान विधि

प्रणव और शून्य तथा अनाहृत ये तीन अक्षर हैं, इनको बुद्धिमानों ने तीन लोक के तिलक के समान कहा है। इन तीनों को नासिका के ब्रह्म भाग में अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा-महिमा आदिक आठ ऋद्धियों को प्राप्त होकर, तत्परतात् अतिनिर्मल केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

तत्त्वध्येय का स्वरूप

आदौ मध्येऽवसाने यद्वाङ्मयं व्याप्तं तिष्ठति ।

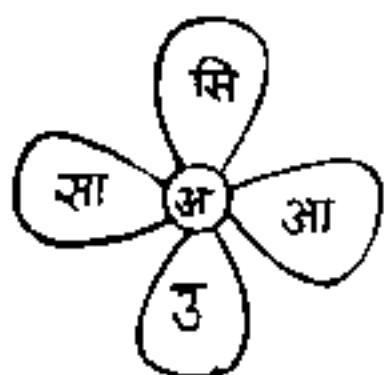
हृदि ज्योतिष्मदुव्यगच्छन्नामध्येयं तदर्हताम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—आदि, मध्य एवं अन्त में जो वाङ्मय को व्याप्त करके स्थित है ऐसे ज्योतिष्मव्यरूप अहंतों के नाम का हृदय में ध्यान करना नाम ध्येय कहलाता है ॥ १०१ ॥

असिआउसा का ध्यान

हृत्यंकर्ते चतुःपत्रे ज्योतिष्मति प्रदक्षिणम् ।

असिआउसाभराणि ध्येयानि परमेष्ठिनाम् ॥ १०२ ॥



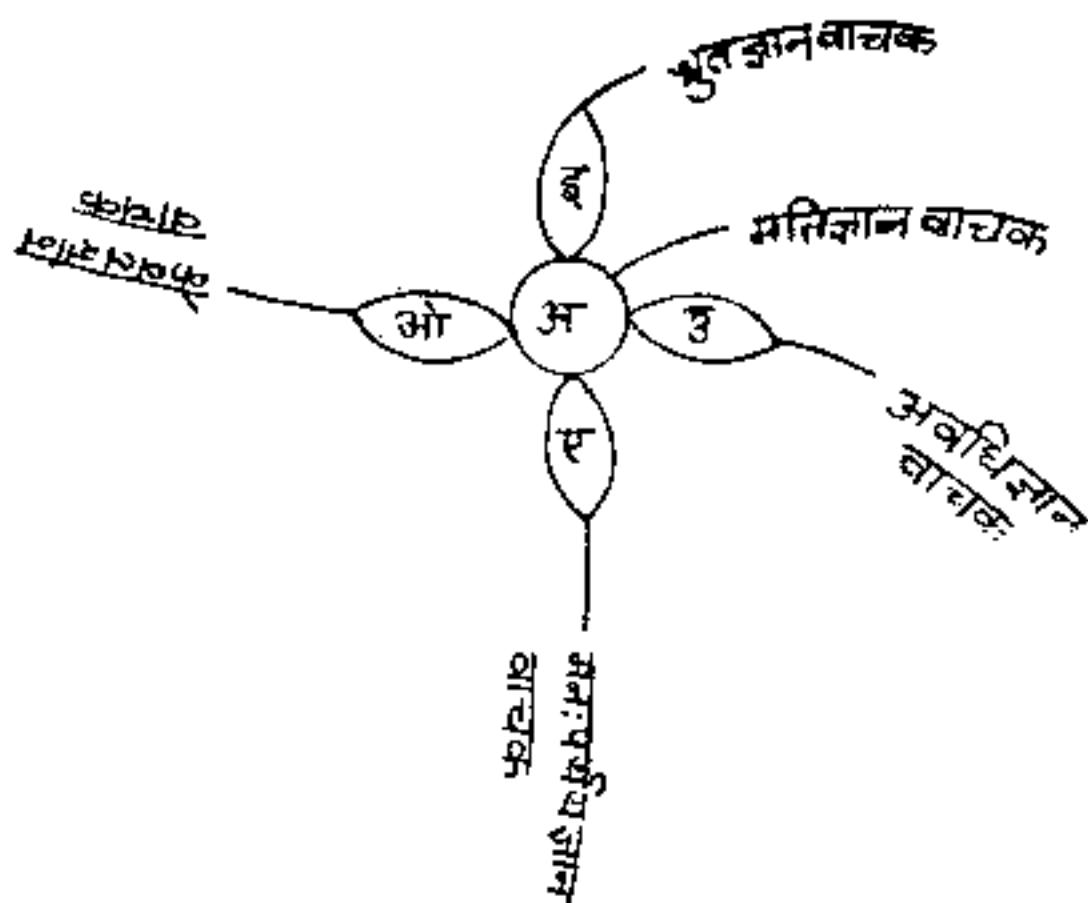
अर्थ—ज्योतिष्मव्यरूप और चार पत्रों वाले हृदय रूपी कमल में परमेष्ठियों के अ सि आ उ सा अक्षरों का प्रदक्षिणा रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ १०२ ॥

अ ह उ ए ओ मंत्रों का ध्यान

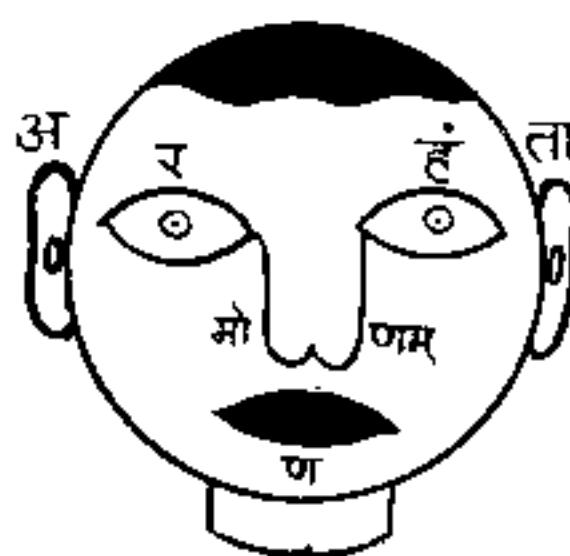
ज्यायेवहउएओ च तद्वन्मञ्चानुर्विषः ।

भरयादिजाननामानि मत्यादिजानसिद्धये ॥ १०३ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सति आदि ज्ञानों को सिद्ध करने के लिए ऊपर की ओर जाऊव्यमान पौच्छें ज्ञानों के नाम (वाचक) अ ह उ ए ओ इन मंत्रों का ध्यान करना चाहिये ॥ १०३ ॥



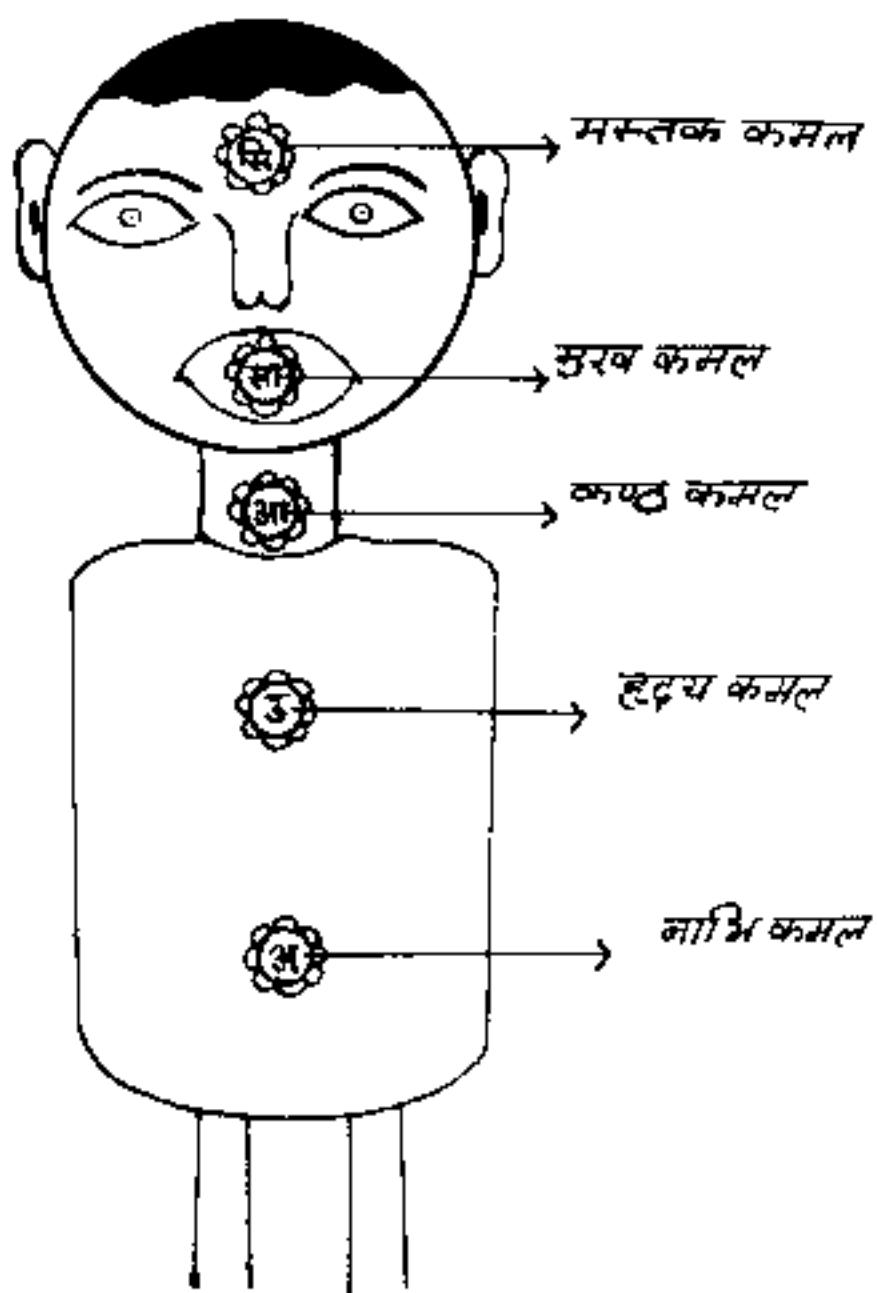
सप्ताक्षरं महामंत्रं मुखरघ्रेषु सप्तसु ।
गुरुपदेशतो व्यायेदिच्छन् दूरश्वाविकम् ॥ १०४ ॥



अर्थ—गुरु के उपदेश से अवण आदि के दोष को दूर करने की इच्छा करता हुआ व्यक्ति मुख के सातों छेदों में सात अक्षरों वाले महामंत्र (नमो अरहंताणम्) का व्यान करे ॥ १०४ ॥

जिवोष—सप्ताक्षरो मंत्र (नमो अरहंताणम्) के अक्षरों को जिह्वा, नाक, कान, अख्ल आदि में कम से स्थापित करें।

इसोप्रकार ज्ञानार्थ में आचार्य शुभचन्द्राचायं ने पंचाक्षरी मंत्र को शरीरमें स्थायता करने के लिये बताया है। जो क्रम से 'अ' को नाभि-कमलमें, सि को महस्तक कमलमें, 'आ' कण्ठस्थ कमलमें, 'उ' को हृदय कमलमें, सा को मुखमें स्थापित करें।



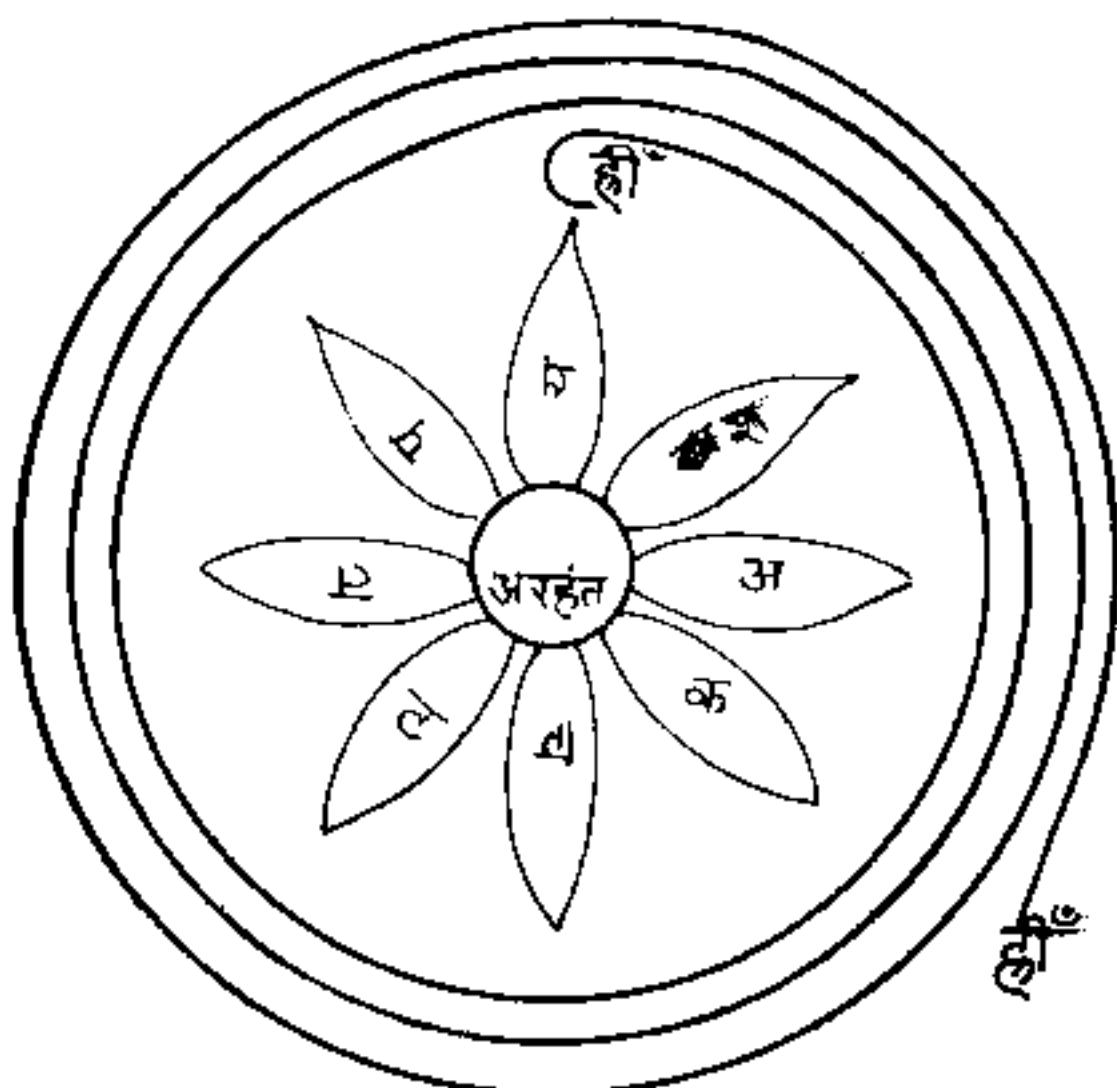
बहुत नाम का ध्यान

द्वयोऽष्टवलं पद्मं वर्गः पूरितमष्टभिः ।
दलेषु कणिकार्णा च नाम्नाविष्णुर्महृताम् ॥ १०५ ॥

गणभूद्गुलयोपेतं त्रिपरीत च मायथा ।

क्षोणीमंडलमध्यस्थं व्याप्तिवृप्तवर्चं (र्चं) वेच्छ तत् ॥ १०६ ॥

अर्थ—हृदय में आठ दल का कमल बनावें, उसकी आठों ही पाखु-
ड़ियों को आठ वर्गों से पूरित करें और मध्यभाग (कणिका) में अरहंत
का नाम स्थापित करे । तदनन्तर गणधर वल्य से सहित, माया से तीन
बार घिरे हुए एवं पृथ्वा मंडल के मध्य में स्थित उस अष्टदल वाले
कमल का ध्यान करे तथा पूजा करें ॥ १०५-१०६ ॥

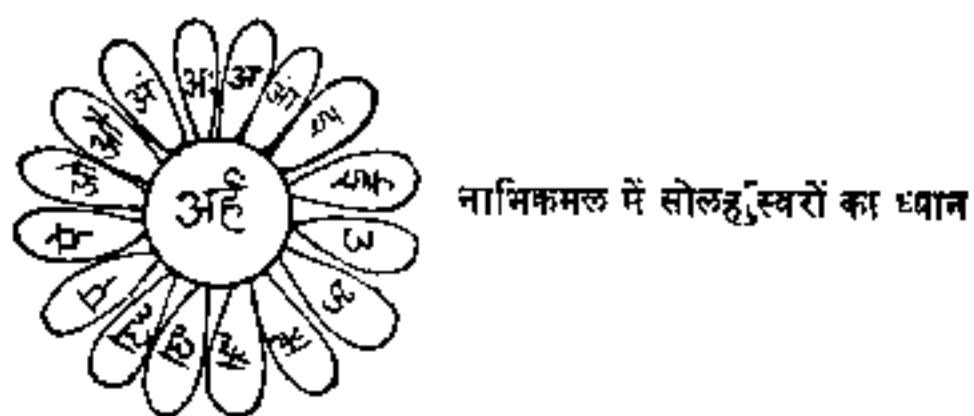
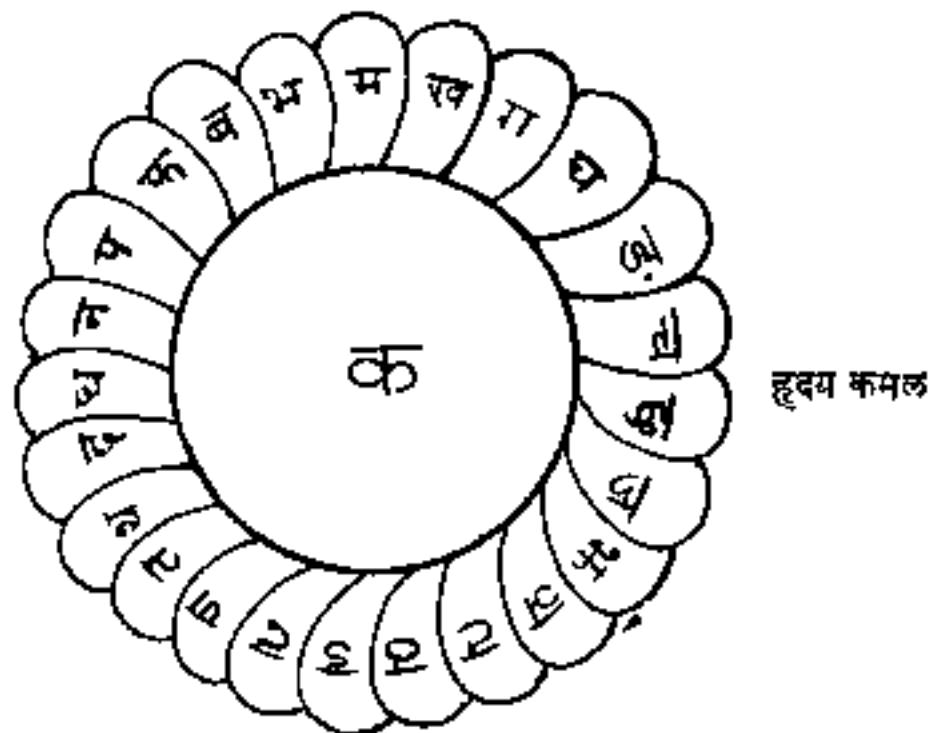


अ से हु पर्यन्त अक्षरों का ध्यान

अकारादिहकारान्ताः मन्त्राः परमशक्तयः ।

स्वमण्डलगता ध्येया लोकद्वयफलप्रदाः ॥ १०७ ॥

अर्थ—दोनों लोकों में फलदायक, अपने मण्डल में प्राप्त हुए अकार से हृकार तक के अक्षरों वाले परम शक्ति-सम्पन्न मन्त्रों का ध्यान करे ॥ १०७ ॥



इस प्रकार नाभिमंडल में अ से लेकर अः १६ स्वरों का ध्यान करना चाहिये तथा हृदय कमल में क से लेकर म पर्यन्त व्यञ्जनों का ध्यान करना चाहिये तथा मुख कमल में य से ह पर्यन्त आठ व्यञ्जनों का ध्यान करना चाहिये। इनका ध्यान करने वाला दोनों लोकों में सुख को प्राप्त कर अनन्तज्ञान/केवलज्ञान का स्वामी बनकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है।

इत्यादीन्मन्त्रिणो मन्त्रानहन्मन्त्रपुरःसरान् ।

ध्यायन्ति यदिहु स्पष्टं नामध्येयमवेहि तत् ॥ १०८ ॥

अर्थ——इत्यादि प्रकार से मन्त्रों का ध्यान करने वाले पुरुष 'अरहन्त' के नाम पूर्वक मन्त्रों का ध्यान करते हैं तो इसे स्पष्ट रूप से नामध्येय (नामध्यान) समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

निज स्वरूप का ध्यान

(बणों के माध्यम से)

अहंद स्वरूपोऽहं	क्रोधातोतोऽहं
आकुलता रहितोऽहं	कद रहितोऽहं
इन्द्रियातीतोऽहं	खल भाव रहितोऽहं
ईश्वरस्वरूपोऽहं	सिन्तता रहितोऽहं
उपशम भाव रहितोऽहं	खीझ रहितोऽहं
ऊर्ध्व गमन स्वभाव स्वरूपोऽहं	खुश पर्याय रहितोऽहं
ऋषिवर स्वरूपोऽहं	गतिमार्गणा रहितोऽहं
एकत्रभाव स्वरूपोऽहं	गात्र रहितोऽहं
ओंकार स्वरूपोऽहं	गिलान रहितोऽहं
औपशमिक भाव रहितोऽहं	गीर्ण (प्रशसा) रहितोऽहं
अन्तमुख स्वरूपोऽहं	गुणस्थान रहितोऽहं
आनन्द स्वरूपोऽहं	गुंगा पर्याय रहितोऽहं
कथायातोतोऽहं	गेहिनी पर्याय रहितोऽहं
कायोस्त्वं सहितोऽहं	गोत्र कर्म रहितोऽहं
कृष्ण लेश्या रहितोऽहं	गौर वर्ण रहितोऽहं
किषाक फल भाव रहितोऽहं	गंधातीतोऽहं
कीट कालिया रहितोऽहं	घातिया कर्म रहितोऽहं
कुब्जक संस्थान रहितोऽहं	घमंड रहितोऽहं

षिराव रहितोऽहं, षिन रहितोऽहं
 धै रहितोऽहं
धमकड़ क्रिया
 धू धू पर्यायि रहितोऽहं
 धीराणि पापानि विमुक्तोऽहं
 ज्ञानुरिन्द्रियातीतोऽहं
 चारित्र स्वरूपोऽहं (चारित्र यथा-
 ख्यात)
 चित्तचमत्कार ज्योति स्वरूपोऽहं
 चौल पर्यायि रहितोऽहं
 चुन्दी (दूती) पर्यायि रहितोऽहं
 चूर्ण क्रिया रहितोऽहं
 चेतना स्वरूपोऽहं
 चेतन्य ज्योति स्वरूपोऽहं
 चोद्यम (आक्षेप) क्रिया रहितोऽहं
 चौदह राज् उत्तुंगोऽहं
 चौदह जीव समास रहितोऽहं
 चन्दन गुण युक्तोऽहं
 छुदमस्थ पर्यायि रहितोऽहं
 छेदोपस्थापना संयम रहितोऽहं
 छिपालीस गुण स्वरूपोऽहं
 छीक रहितोऽहं
 अन्म रहितोऽहं
 जाति नाम कर्म रहितोऽहं
 जिन्दगी रहितोऽहं
 जुगृप्सा रहितोऽहं
 जेनोऽहं
 शंशट रहितोऽहं
 झूठ बचन रहितोऽहं
 टंकोत्कीर्ण ज्योति स्वरूपोऽहं
 दुष्ट क्रिया रहितोऽहं
 ठान रहितोऽहं
 डर रहितोऽहं

णमोकार मंत्रस्वरूपोऽहं
 पाण पयासो रहितोऽहं
 णिव्राण रवरूपोऽहं
 तन रहितोऽहं
 तम रहितोऽहं
 तिगुप्ति गुप्तोऽहं
 तेरह प्रकार चारित्र स्वरूपोऽहं
 तैजस नाम कर्म रहितोऽहं
 थावर पर्यायि रहितोऽहं
 थुल पर्यायि रहितोऽहं
 दथा स्वरूपोऽहं
 दर्शनावरणीय कर्म रहितोऽहं
 दुरचारित्र रहितोऽहं
 देवगति नाम कर्म रहितोऽहं
 दोष रहितोऽहं
 धर्मध्यान स्वरूपोऽहं
 धारणा रहितोऽहं
 धीरोऽहं
 धैर्य युक्तोऽहं
 धीव्य स्वरूपोऽहं
 नरक गति रहितोऽहं,
 नमन स्वरूपोऽहं
 नाम कर्म रहितोऽहं
 निहार रहितोऽहं
 निःशक्ति भाव युक्तोऽहं
 नीच गोत्र रहितोऽहं
 नो कर्म रहितोऽहं
 परमात्म स्वरूपोऽहं
 परम ज्योति स्वरूपोऽहं
 पाप रहितोऽहं
 पीत वर्ण रहितोऽहं
 पुराण पुरुषोऽहं
 पुरुषार्थोऽहं पुरुषार्थ युक्तोऽहं

देशन्य क्रिया रहितोऽहं
 पौदगलिक क्रिया रहितोऽहं
 फिल्क रहितोऽहं
 फुफ्फस रहितोऽहं
 फद रहितोऽहं
 वंध रहितोऽहं
 बादर पर्याय रहितोऽहं
 बीमत्स परिणाम रहितोऽहं
 बोलना क्रिया रहितोऽहं
 भगवत्स्वरूपोऽहं
 आपा रहितोऽहं
 जिज्ञा रहितोऽहं
 भुजा रहितोऽहं
 भेद विज्ञान युक्तोऽहं
 ममत्व रहितोऽहं
 महाव्रत युक्तोऽहं
 मान रहितोऽहं
 मिथ्यात्व रहितोऽहं
 मीमांसक धर्म रहितोऽहं
 मेधा सहितोऽहं
 मोह रहितोऽहं
 यतिवर स्वरूपोऽहं
 याचना रहितोऽहं
 युवावस्था रहितोऽहं
 योगातीतोऽहं
 रत्नत्रय स्वरूपोऽहं
 रागातीतोऽहं
 रिपु रहितोऽहं
 रुदन रहितोऽहं
 रेचन क्रिया रहितोऽहं
 रे रहितोऽहं
 रोगातीतोऽहं

लब्धि स्वरूपोऽहं
 लिगातीतोऽहं
 लेश्या रहितोऽहं
 वंद्य वंदक भाव रहितोऽहं
 वरदस्व भावना युक्तोऽहं
 विरागोऽहं
 वीतरागोऽहं
 वैराग्य स्वरूपोऽहं
 जग दम रहितोऽहं
 शान्ति स्वरूपोऽहं
 शुभ नाम कर्म रहितोऽहं
 शोषावास्था रहितोऽहं
 शोक रहितोऽहं
 शंका अतिथार रहितोऽहं
 सत्य स्वरूपोऽहं
 सातावेदनीय कर्म रहितोऽहं
 सिद्ध स्वरूपोऽहं
 सुभग कर्म रहितोऽहं
 सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिष्ठान
 रहितोऽहं
 सेष्व पर्याय रहितोऽहं
 षट्काय रहितोऽहं
 षु: क्रिया (प्रसूति क्रिया) रहितोऽहं
 षोडशकारण भावना युक्तोऽहं
 हृलन चलन रहितोऽहं
 हास्यातीतोऽहं
 हिसा रहितोऽहं
 हृहु पर्याय रहितोऽहं
 हेतु भाव रहितोऽहं
 हेयोपादेय ज्ञान सहितोऽहं
 हैरानी रहितोऽहं



स्थापना ध्येय का स्वरूप

जिनेन्द्रप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाष्टकृतानि च ।

यथोक्तस्थापने तानि तथा ध्यायेदशकृतम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—जैसे आगम में कहे गये हैं, उन कृत्रिम (बनाई गई) एवं अकृत्रिम (नहीं बनाई गई) जिनेन्द्र भगवान् के प्रतिबिम्बों का मन्देह-रहित होकर ध्यान करना स्थापना ध्येय का स्वरूप है।

विशेष—स्थापना दो प्रकार को होती है—सद्भावस्थापना दूसरी असद्भावस्थापना (इलां वां) अथवा मायार इयर ठवणा अर्थात् साकार व अनाकार के भेद से स्थापना के दो प्रकार (न० च० द० २७३)।

वास्तविक पर्याय से परिणत इन्ह आदि के नामानुसारी तुर्दि काल आदि की प्रतिमा में आरोपे हुए उन इन्द्रादि की स्थापना करना “सद्भावस्थापना” है क्योंकि किसी अपेक्षा से इन्द्रादि का सादृश्य यहाँ विद्यमान है। तभी तो मुख्य पदार्थ को जीव की तिळ प्रतिमा के अनुसार सादृश्य से ‘यह वही है’ ऐसी बुद्धि हो जाती है। यथा पाइर्वनाथ की बीतराग प्रतिमा को देखकर यह वही पाइर्वनाथ है ऐसी बुद्धि हो जाती है।

मुख्य आकारों से शून्य केवल दस्तु में “यह वही है” ऐसी स्थापना कर लेना असद्भाव स्थापना है; क्योंकि मुख्य पदार्थों को देखने वाले जीव की दूसरों के उपदेश से ही “यह वही है” ऐसा समीचीन ज्ञान होता है, परोपदेश के बिना नहीं। यथा—मुपारी, चावल आदि में भगवान् की स्थापना करना अथवा सतर्ज की गोटों में हाथी-धोड़ा आदि की स्थापना करना।

जिनेन्द्रदेव को कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ सद्भाव स्थापना हैं। ये ध्याता के ध्यान करने योग्य हैं। इसोलिये इन्हें स्थापना ध्येय कहते हैं। यथा—सर्व अकृत्रिम जिनबिम्बों में अरहन्ता की स्थापना है। उन्हें साक्षात् अहंतामान ध्याता उनके महागुणों का चिन्तन कर अपने मन को एकाग्रता की ओर ले जाता है।

“कोटि शशि भानु दुति तेज छिप जात है,
महावैराग्य परिणाम ठहरात है,
वयन नहीं कहै लखि होत सम्यक् धर”

इसी प्रकार सर्व कृत्रिम जिनबिम्ब भी स्थापना ध्येय है। प्रतिदिन

इन कृत्रिमाकृत्रिम जिनकिम्बों को नमस्कार व इनका ध्यानादि करने से कोटिभवों की कर्मशृंखला कटती है ।

द्रव्य नामक ध्येय का स्वरूप

यथैकमेकदा द्रव्यमुत्पत्त्सु स्थास्तु नश्चरम् ।

तथैव सर्वदा सर्वमिति तत्त्वं विचिन्तयेत् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार एक द्रव्य एक समय में उत्पन्न होने वाला, स्थिर रहने वाला अथवा नष्ट होने वाला होता है, सब द्रव्य सदा उसी रूप में होते हैं—इस प्रकार तत्त्व का चिन्तन करना चाहिये ॥ ११० ॥

विशेष—दद्वं सल्लक्षणिण्य उत्पादद्रव्यव्युत्पत्तमंजुनं ।

गुणपञ्जयासायं वा जं तं भण्णति सद्वर्णहू ॥ १० ॥

—पंचास्तिकाय

सर्वशः देव ने द्रव्य को सत्ता लक्षण वाला कहा है। अर्थात् जो सत् है वह द्रव्य है, अथवा जो उत्पाद, व्यय और ध्रीव्य से संयुक्त हैं वह द्रव्य है, अथवा जो गुण और पर्यायों का आधार है वह द्रव्य है ।

सद्द्रव्यलक्षणम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र ५/२९

द्रव्य का लक्षण सत् (अस्तित्व) है ।

उत्पादद्रव्यव्युत्पत्तसत् ॥ ३० ॥

—तत्त्वार्थसूत्र ५/३०

जो उत्पाद, व्यय और ध्रीव्य कर सहित हो वह सत् है ।

उत्पाद—द्रव्य में नवीन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद कहते हैं ।

जैसे—मिट्टी की पिण्ड पर्याय से घट का ।

व्यय—पूर्व पर्याय के विनाश को व्यय कहते हैं । **जैसे**—घट पर्याय उत्पन्न होने पर पिण्ड पर्याय का ।

ध्रीव्य—दोनों पर्यायों में सौजन्य रहने को ध्रीव्य कहते हैं ।

जैसे—पिण्ड तथा घट पर्याय में मिट्टी का ।

उत्पाद आदि का द्रव्य से अभेद है—उत्पाद, व्यय और ध्रीव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्य में होता है । इसलिये यह निश्चय है कि उत्पाद आदि सब द्रव्य रूप ही है ।

उत्पाद आदि में एक क्षण का भी अभेद नहीं है—

द्रव्य एक ही समय में उत्पाद, व्यय और ध्रीव्य नामक भावों से एक-मेक है । अतः वे तीनों द्रव्य-स्वरूप ही हैं ।

द्रव्य का उत्पाद अथवा विनाश नहीं होता, वह तो सत्स्वरूप है । किन्तु उसी की पर्याय उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य को करते हैं । अर्थात्, द्रव्य-दृष्टि से द्रव्य में उत्पाद व्यय नहीं हैं, किन्तु पर्याय की दृष्टि से हैं ।

भाव ध्येय का स्वरूप

(चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थितः ।

~~अनादि~~ तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तस्यमुच्चयते ॥ १११ ॥

अर्थ—जो चेतन अचेतन पदार्थ जिस प्रकार से बनवस्थित है, उसका जो उसी तरह का भाव है वह यथार्थ तत्त्व कहलाता है ॥ १११ ॥

अनादिनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।

उत्सङ्गजन्मित निमज्जन्मित जलकल्लोलबज्जले ॥ ११२ ॥

यद्हि कृतं यथापूर्वं यच्च पश्चाद्विवर्त्यर्थति ।

विवर्तते यदत्राद्य तवेवेदमिदं च तत् ॥ ११३ ॥

सहवृत्ता गुणस्तत्र पर्यायाः क्रमवर्तिनः ।

स्यावेतदात्मकं द्रव्यमेते च स्युस्तदात्मकाः ॥ ११४ ॥

एवंविधमिदं वस्तु स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकम् ।

प्रतिक्षणमनाद्यनन्तं सबं ध्येयं तथा स्थितम् ॥ ११५ ॥

अर्थव्यंजनपर्यायाः मूर्तस्त्री गुणाश्च ये ।

यत्र द्रव्ये यथावस्थास्तांश्च तत्र तथा स्मरेत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—द्रव्य जो कि अनादि है, उसमें प्रशिक्षण स्व पर्यायें जल में कल्लोलों की तरह उपजती तथा विनशती रहती हैं। जो पूर्व क्रमानुसार विवर्तित हुआ है, होगा, और हो रहा है वही सब यह (द्रव्य) है और यही सब उन स्वरूप है। द्रव्य में गुण सहवर्ती और पर्यायं क्रमवर्ती हैं। द्रव्य इन गुणपर्यायात्मक है और गुण पर्याय द्रव्यात्मक है। इस प्रकार यह द्रव्य नाम की वस्तु जो प्रतिक्षण स्थिति, उत्पत्ति और व्यवरूप है तथा अनादि निधन है वह सब यथावस्थित रूप में ध्येय है और जो अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, तथा मूर्त, अमूर्त गुण जिस द्रव्य में जिस रूप में पाये जाते हैं उनको उसमें उसी तरह स्मरण करें ॥ ११२-१६ ॥

विशेष—अमी जीवादयो भावाद्विवदचिल्लक्षलाक्षिताः ।

तस्यवरूपा विरोधेन ध्येया धर्मे मनोषिभिः ॥ १८ ॥

—कानाण्डव

अर्थ—जो जीवादिक षट्द्रव्य चेतन अचेतन लक्षण से लक्षित हैं, अविरोधरूप से उन यथार्थ स्वरूप हो दृढिमान जनों द्वारा धर्मध्यान में ध्येय होता है।

सात तत्त्व वा मौ पदार्थ ध्येय हैं—

जिणउबइट्ठणवपयत्था वा ज्ञेयं होति । —जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ ध्येय हैं । —ष० १३/५. ४. २६/३

अहं ममास्त्वो बन्धः संवरो निर्जराक्षयः ।

कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवार्थवा ॥१०८॥ म. पु.

अर्थ—मैं अर्थात् जीव और मेरे अजीव आत्मव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा कर्मों का क्षय होने रूप मोक्ष । इस प्रकार ये सात तत्त्व या पुण्य पाप मिला देने से नौ पदार्थ ध्यान करने योग्य हैं ।

वद्विष्ट द्रव्यों में जीव उत्तम ध्यान करने योग्य है

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्मशिर्मो तथास्वरम् ।

वद्विष्टं द्रव्यमास्नातं सत्र ध्येयतमः पुमान् ॥ ११७ ॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म और आकाश ये छः प्रकार के द्रव्य कहे गये हैं । इनमें जीव सर्वाधिक ध्यान करने योग्य है ॥ ११७ ॥

विशेष—वास्तव में द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—जीव और अजीव । जिसमें उपयोग एवं चेतना हो, उसे जीव कहते हैं । पूर्ण एवं निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन शुद्धोपयोग तथा मतिज्ञानादि रूप विकल अशुद्धोपयोग है । अव्यक्त सुख-दुःख का अनुभव कर्मफलचेतना, इच्छा-पूर्वक इष्टानिष्ट विकल्प से होने वाले रागद्वेष परिणाम कर्म चेतना और केवलज्ञान शुद्धचेतना या ज्ञानचेतना है । जीव में उपयोग एवं चेतना है तथा अजीव में ऐ दोनों नहीं हैं ।

जीव की उत्तम ध्येयता का कारण

सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं, ध्येयता प्रतिपद्यते ।

ततो ज्ञानस्वरूपोऽयमात्मा ध्येयतमः स्मृतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—चूंकि ज्ञाता के होने पर ही ज्ञेय पदार्थ ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञानस्वरूप यह आत्मा सर्वाधिक या श्रेष्ठ ध्यान करने योग्य कहा गया है ॥ ११८ ॥

रंगों के साथ मनुष्य के मन का, मनुष्य के शरीर का कितना गहरा सम्बन्ध है—

हमें ज्ञान केन्द्र पर “णमो अरहंताण” का ध्यान इवेत वर्ण के साथ

करना चाहिये। इवेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने वाला होता है।

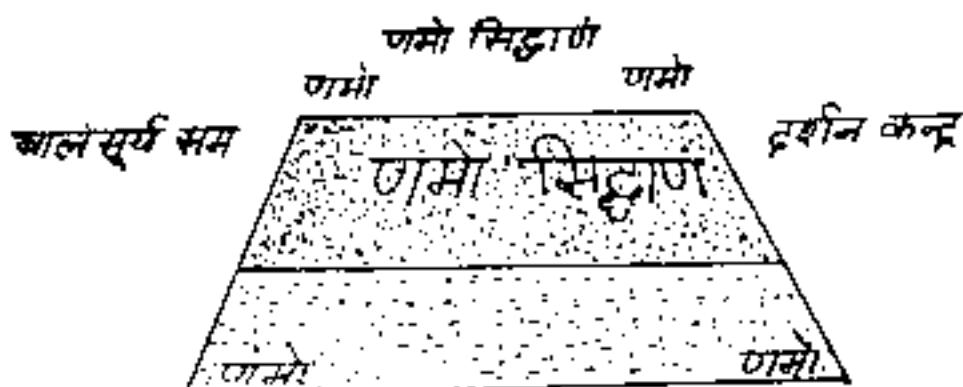
धूसर सहित
इवेत वर्ण



मस्तिष्क में ज्ञान
केन्द्र लक्ष्य
बिन्दु

मस्तिष्क में "अर्हं" का ध्यान धूसर रंग के साथ, इवेत वर्ण के साथ करें, इससे ज्ञान की सोधी हुई शक्तियाँ जागृत होती हैं, चेतना का जागरण होता है। हसीलिये इस पद की आराधना के साथ ज्ञानकेन्द्र और सफेद वर्ण की समायोजना की गई है। स्वास्थ्य के लिये भी यदि कोई ध्यान करना चाहे तो उसे "इवेत वर्ण" का ध्यान करना चाहिये। इवेत वर्ण स्वास्थ्य का प्रतीक है।

"ज्ञानो सिद्धाण्ड" का ध्यान दर्शन केन्द्र में "रक्त वर्ण" के साथ किया जाता है। "बालसूर्य सम लालवर्ण"। आत्म साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि का विकास, असोन्द्रिय चेतना का विकास इस दर्शन केन्द्र से होता है—

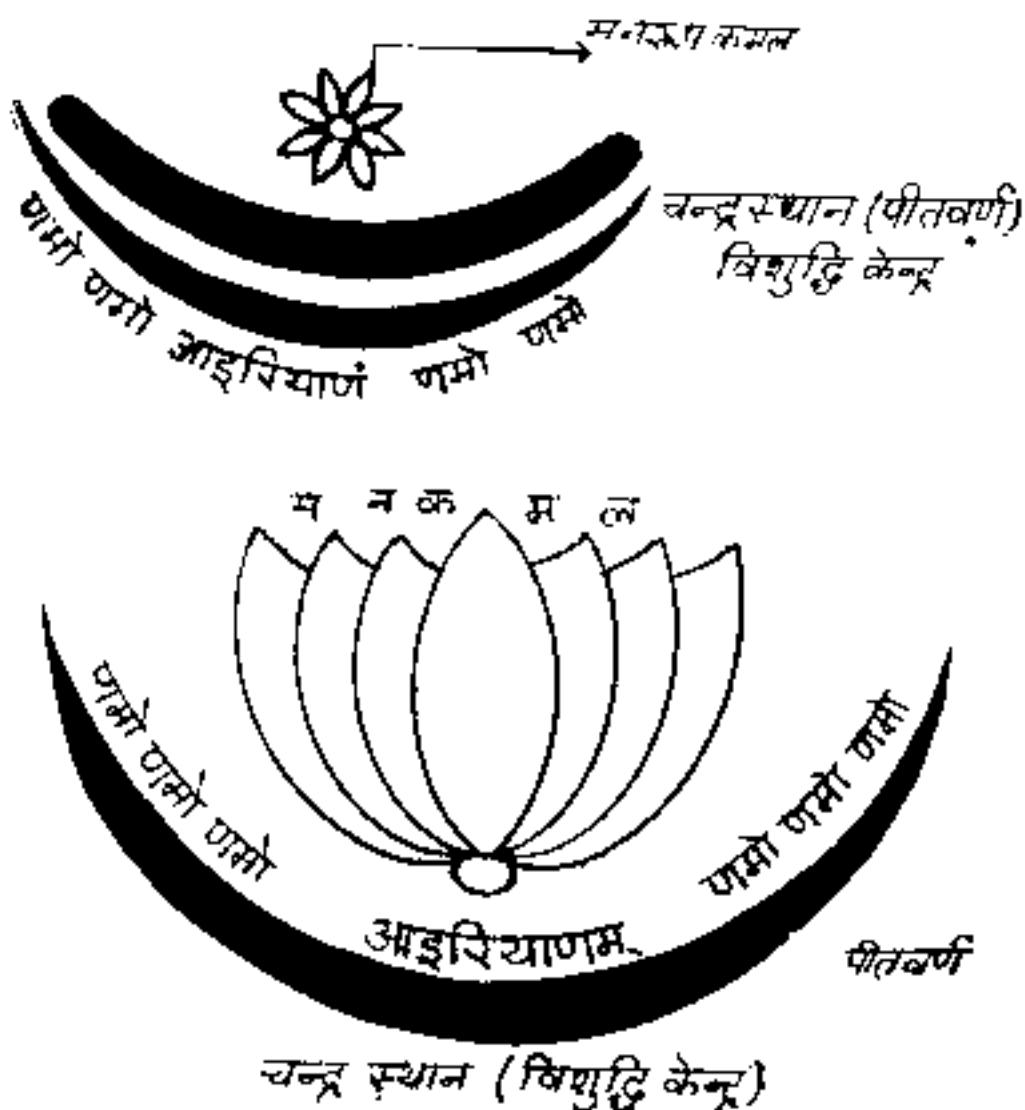


ज्ञानो सिद्धाण्ड मंत्र, लालवर्ण, दर्शन केन्द्र—इन तीनों का समायोजन हमारी आन्तरिक दृष्टि को जागृत करने का अनुप्रय साधन है, यह एक मार्ग है। किसको कब सिद्धि होती है यह उसी साधना पर निर्भर करता है।

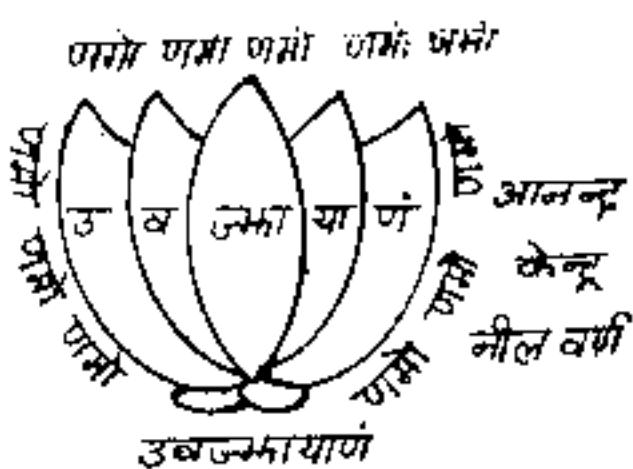
ज्ञानो आद्विद्याण—मंत्र पद है। इसका रंग "पीला है"। यह रंग हमारे मन को सक्रिय बनाता है। इसका स्थान है विशुद्धि केन्द्र। यह स्थान चन्द्रमा का है। हमारे शरीर में पूरा सौरमण्डल है, सूरज है, चौद है, बुध है, राहु, केतु, गुरु, शुक्र, शनि सब ग्रह हैं। हस्तरेखा विशेषज्ञ हाथ की रेखाओं के आधार पर नो ग्रहों का ज्ञान कर लेता है। ललाट विशेषज्ञ

ललाट पर खींचने वाली रेखाओं के आधार पर और थोग के आचार्य चेतन्य केन्द्रों के आधार पर नी ग्रहों का ज्ञान कर लेते हैं। नी ग्रहों का शरीर में स्थान—तैजस केन्द्र सूर्य का स्थान है, विशुद्धि केन्द्र चन्द्रमा का स्थान है। ज्योतिषी चन्द्रमा के माध्यम से मन की स्थिति को पढ़ता है। चन्द्रमा और मन का सम्बन्ध है। जैसी स्थिति चन्द्रमा की होती है वैसी ही स्थिति मन को होती है। अतः मन का स्थान चन्द्रमा का स्थान है।

णमो आइरियाण—का ध्यान विशुद्धि केन्द्र पर पौले रंग से करें। यह चेतन्य केन्द्र हमारी भाविताओं का भेदाभक्त है। तैजस केन्द्र वृत्तियों को उभारता है और विशुद्धि केन्द्र उन पर नियंत्रण करता है। रंग के साथ इस केन्द्र पर आचार्य का ध्यान करने पर हमारी वृत्तियाँ शान्त होती हैं। वे पवित्रता की दशा में सक्रिय बनती हैं। विशुद्धि केन्द्र पवित्रता संवृद्धि करने वाला होता है। यहाँ मन निर्मल व पवित्र होता है।



णमो उवज्ज्ञायाण—यह मन्त्र पद है। इसका रंग नीला है। इसका स्थान आनन्द केन्द्र है। नीला रंग शान्ति देने वाला होता है। यह रंग समाधि एकाग्रता पैदा करता है। और कषायों को शान्त करता है। नीला रंग आत्म साक्षात्कार में सहायक होता है।



णमो लोपु सत्त्वसाहूण—यह मन्त्र पद है इसका रंग काला है। इसका स्थान है शक्ति केन्द्र। शक्ति केन्द्र का स्थान या वेरों के स्थान पर काले वर्ण के साथ इस मन्त्र की बाराधना की जाती है। काला वर्ण अवशोषक है। यह बाहर के प्रभाव को भीतर नहीं जाने देता है।

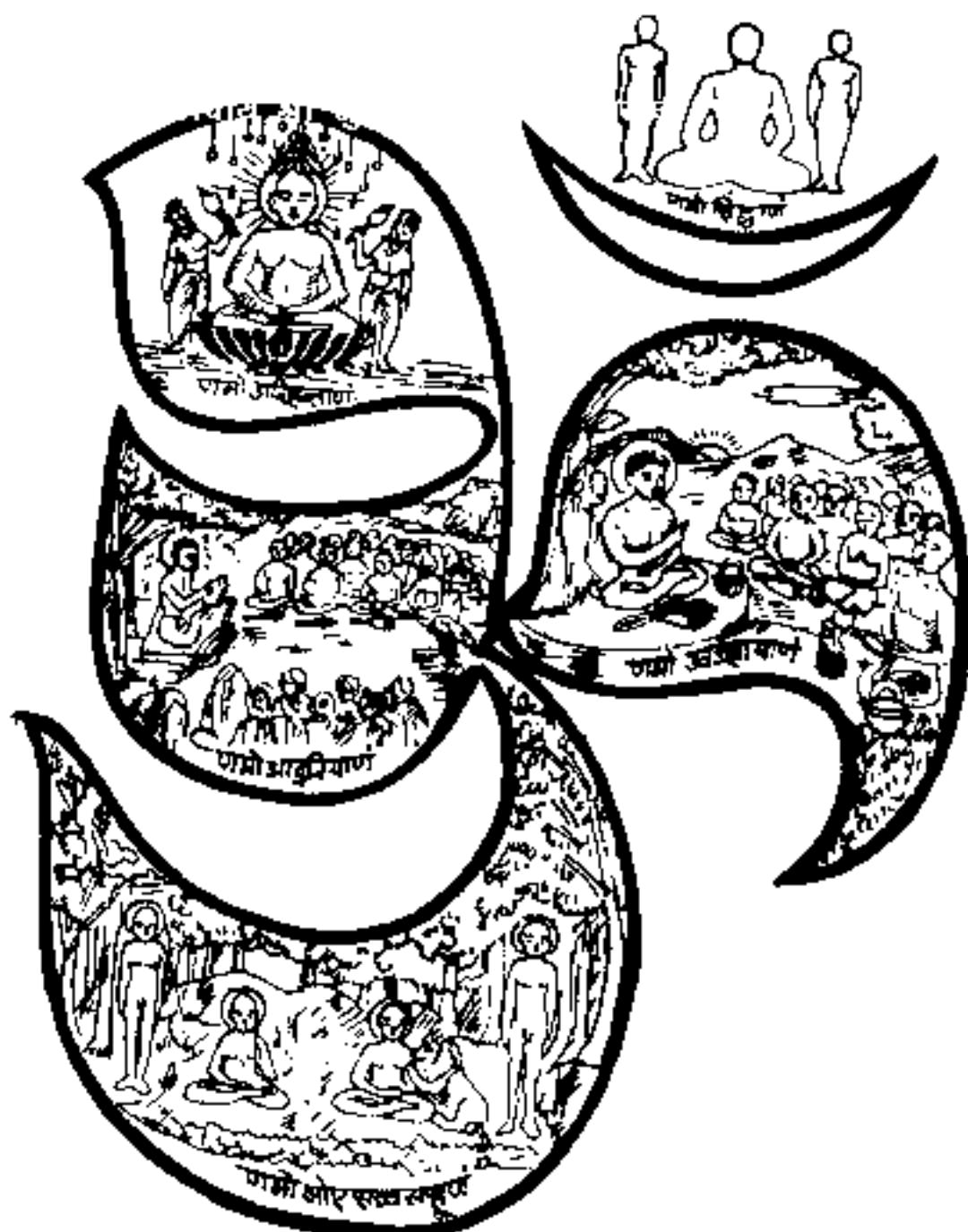


तत्रापि तत्त्वतः पञ्च ध्यातव्याः परमेष्ठिनः ।

चत्वारः सकलास्तेषु सिद्धेषु स्वामीति निष्कलः ॥ ११९ ॥

अर्थ—उनमें भी वास्तव में पाँच परमेष्ठो ही ध्यान करने वोरय हैं ।
इनमें चार तो सशगोरो हैं और सबके स्वामी सिद्ध शरीर रहित हैं ॥११९॥

पञ्च परमेष्ठी



छ्येघ सिद्धों का स्वरूप

अनन्तदर्शीनज्ञानसम्प्रक्षेपादिगुणात्मकम् ।

स्वोपात्तातन्त्रत्यक्तशरीराकारघारिणः ॥ १२० ॥

साकारं च निराकारममूर्तमजरामरम् ।

जिनविभवमिद्द्वय स्वच्छस्फटिकप्रतिबिभितम् ॥ १२१ ॥

लोकाग्रशिखरालृदमुदूदसुखसम्पदम् ।

सिद्धात्मानं निराकारं घायेन्द्रितकल्मषम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—जो अनन्तदर्शन, ज्ञान, सम्प्रक्षेप आदि गुणों कर सहित हैं, सिद्ध अवस्था से ठीक पाहुले छोड़े दुए फरीर रिसे हि गहिरे वहाँ कह रखा था—के बाकार को धारण करने वाले हैं, इसलिये साकार हैं किन्तु अमूर्त (रूप, रस, गंध व स्थरं रहित) होने से जो निराकार हैं, अजर हैं अपर हैं जो स्वच्छ स्फटिक मणि में झलके हुए (प्रतिबिभित हुए) हैं जिनविभव के समान हैं, जो लोकाग्र के शिखर में विराजमान हैं, सुख-सम्पत्ति से समन्वित हैं, जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममल को नष्ट कर दिया है ऐसे बाधाओं से रहित सिद्ध आत्मा को ध्यावें ॥ १२०-१२२ ॥

गद्धुकम्मवंधा अद्गमहागुणसमणिग्रा परमा ।

लोयग्निदा गिर्वा सिद्धा ते एरिसा होति ॥ —नियमसार

आठ करों के बन्धन को जिन्होंने नष्ट किया है, ऐसे आठ महागुणों से सहित परम लोकाग्र में स्थित और नित्य, ऐसे वे सिद्ध नित्य ध्यान करने योग्य हैं ।

सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के घ्यजदंड से १२ योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी स्थित है । उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व पश्चिम रूप से एक राजू प्रमाण है । वेशासन के सदृश वह पृथ्वी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी है । इसकी मोटाई आठ योजन है । यह पृथ्वी घनोद्धिवातल्य, घनवात और तनुवात इन तीन वायुओं से युक्त है । इनमें से प्रत्येक वायु का बाहुल्य तनुवात इन तीन वायुओं से युक्त है । इसके बहुप्रथ्य भाग में चाँदी एवं सुवर्ण के २०,००० योजन प्रमाण है । इसके बहुप्रथ्य भाग में चाँदी एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रूपों से पूर्ण ईष्टप्रागभार नामक क्षेत्र है । यह क्षेत्र उत्तान घबल छत्र के सदृश (या आधे कटोरे के समान) आकार से सुन्दर और ४५,००,००० योजन विस्तार संयुक्त है । उसका मध्य बाहुल्य आठ

योजन है और उसके आगे घटते-घटते बन्त एक अंगुल मात्र। अष्टम भूमि में स्थित सिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है (चिठ्ठा १०)

वे सिद्ध भगवान् निश्चय से स्व में ही रहते हैं, व्यवहार से सिद्धालय में रहते हैं……देवाधिदेव व्यवहार से लोकाश्र में स्थित हैं और निश्चय से निज ज्ञातमा में ज्यों के त्यों अत्यन्त अविवल रूप से रहते हैं।

सम्मत णाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं ।

अगुरुलधुमव्वावाहं अहुगुणा होति सिद्धाणं ॥

क्षायिक सम्प्रवत्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलधुत्व और अव्यावाधत्व ये सिद्धों के आठ मूलगुण हैं।

अक्षयायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व ये सिद्धों के आठविंशति के गुण होते हैं। (घ० १३)

सिद्धों के आठ मूलगुणों में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा ज्ञार गुण मिलाने पर बारह गुण माने गये हैं—

द्रव्यतः क्षेत्रतत्त्वैव कालतो भावतस्तथा ।

सिद्धाप्तगुणसंयुक्ता गुणाः द्वादशधा स्मृता ॥

—घ० १३/५, ४. २६/४८० ३०/६०

सिद्ध जीव-परम शुद्ध जीवद्रव्य हैं। अनन्त ज्ञानत गुणों के स्वामी हैं। स्वभाव अर्धपर्याय व स्वभाव व्यंजनपर्याय संयुत है। गति आदि १४ मार्गणा में ज्ञान मार्गणा में भी केवलज्ञान सहित हैं तथा दर्शन मार्गणा में केवलदर्शन सहित हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन रहित व शेष मार्गणाओं से भी रहित हैं। गुणस्थानातीत, जीवसमाप्त, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा रहित सिद्धों का ध्यान करो। सिद्धों को ध्येय बनाकर निज शुद्धात्मा चिन्तन करने वाला परम सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है।

ध्येय अरहन्तों का स्वरूप

तथाद्यमाप्तमाप्तानां देवानामधिदेवतम् ।

प्रक्षीणधातिकर्मणं प्राप्तानन्तरुद्धयम् ॥ १२३ ॥

दूरसुत्सुज्यभूभागं नभस्तलमधिष्ठितम् ।

परमोदारिकस्वाक्षर्प्रभाभस्तमास्करम् ॥ १२४ ॥

चतुर्स्त्रिशन्महात्म्येः प्रातिहार्येऽव्वः भूषितम् ।
 मुनितिर्यङ्गुरस्वगिसभाभिः सन्लिखेवितम् ॥ १२५ ॥
 जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायितम् ।
 केवलज्ञाननिर्णीतविद्वत्त्वोपदेशिनम् ॥ १२६ ॥
 प्रभास्वल्लक्षणाकीर्णसम्पूर्णोदग्रविग्रहम् ।
 आकाशस्फटिकान्तस्थज्वलज्ज्वालानलोज्ज्वलम् ॥ १२७ ॥
 तेजसामुत्तमं तेजो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
 परमात्मानमर्हन्तं ज्यायेन्तिःश्रेयसाप्तये ॥ १२८ ॥

अर्थ— तथा जो आप्तों (पंचपरमेष्ठियों) में प्रथम आप्त हैं, जो देवों के भी देव हैं, जिन्होंने नार धातिया कर्मों को नष्ट कर दिया है, और इसीलिये जिन्हें अनन्तचतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य, अनन्त सुख) प्राप्त हुए हैं, जो पृथ्वी तल को दूर छोड़कर अर्थात् पृथ्वी-तल से चार अंगुल ऊपर नभस्तल में ठहरे रहते हैं, परम औदारिक स्वरूप अपने शरीर की प्रभा से सूर्य की प्रभा को भी नीचा कर दिया है, जिन्होंने, जो चौतीस अतिशय तथा आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित है, मुनि तिर्यंत्र, मनुष्य व स्वर्ग के द्वारा सेवित हैं, जन्माभिषेक आदि पूजातिशयों को प्राप्त करने वाले हैं, केवलज्ञान के द्वारा निर्णीत समस्त तत्त्वों के उपदेश देनेवाले हैं, जिन्होंका सम्पूर्ण उत्तम शरीर, समस्त तत्त्वों के प्रतिभासित होनेवाले लक्षणों (१००८ चिह्नविशेषों) से व्याप्त हो रहा है। जो आकाश में स्थित स्फटिक मणि में पाई जानेवाली जाज्वल्यमान ज्वालानल के समान उज्ज्वल हैं, तेजो में उत्तम तेज रूप है, ज्योतियों में उत्तम ज्योति रूप है ऐसे अरहन्त परमात्मा का मोक्ष को प्राप्ति के लिये ध्यान करें ॥ १२३-१२८ ॥

विशेष— अर्हत्, अरहन्त, अरिहन्त, अरुहन्त अलिहन्त पे सब अरहन्त के ही पर्यायवाची नाम हैं। अहं धातु से पूज्य योग में अर्हत्, अरहन्त-वीतराग-सर्वज्ञ हितोपदेशी होने से, चार धातिया कर्मों के क्षय से अरिहन्त तथा धातिकर्मरूपी वृक्ष को जड़ से उखाड़ देने से अरुहन्त कहे जाते हैं।

नामे ठ्वणे हि य सं दब्बे भावे हि सगुणपञ्जाया ।

चउणागदि संपदिमे भावा भावति अरहन्तं ॥ २७ ॥

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, स्वकीयगुण, स्वकीयपर्याय, च्यवन, आगति और समादा इन नी द्वारों का आश्रय करके अरहन्त भगवान् का ध्यान करें।

णाघजिणा जिणणामा ठवणजिणा तहृ य ताहृ पडिमाओ ।
दच्छजिणा जिणजोवा भावजिणा समवसरणत्था ॥

अरहन्त भगवान् के जो नाम हैं वे नाम जिन हैं, उनकी प्रतिमाएँ स्थापना जिन हैं, अहन्त भगवान् का जीवद्रव्य द्रव्य जिन हैं और समवसरण में स्थित भगवान् भावजिन हैं।

बनन्त चतुष्टय उनके स्वकीय गुण हैं, दिव्य परमौदारिक शरीर, महाअष्टप्रातिहार्य और समवसरण ये अरहन्त भगवान् की स्वकीय पर्याय हैं। अरहन्त भगवान्—तीर्थंकर भगवान् स्वर्ग या नरकगति से च्युत होकर उत्पन्न होते हैं। भरत-ऐरावत और विदेह क्षेत्र में उनका आगमन होता है अर्थात् स्वर्ग या नरक से च्युत होकर इन क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं। उनके गर्भवितरण के छह मास से लगातार माता के अंगण में सुवर्ण और रत्नों की वर्षा होती है तथा गर्भवितरण हो चुकने पर नी मास पर्यन्त माता के अंगण में सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर सुवर्ण और रत्नों की वर्षा करता है तथा उनका नगर सुवर्णमय हो जाता है यह अरहन्त भगवान् की सम्पत्ति है (ब० पा० टी० ब० प्रा०)

इसी प्रकार गुणस्थान मार्गेणा, पर्याप्ति, प्राण, जीवस्थान के द्वारा अरहन्त की योजना कर उनका ध्यान करना चाहिये—यथा

तेरहवें गुणस्थान में स्थित सयोगकेवली जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं। उनके ३४ अतिशय ८ प्रातिहार्य ४ अनन्त चतुष्टय मूल गुण होते हैं इनका आश्रय कर अरहन्त का ध्यान करें।

१४ मार्गेणाओं में अरहन्त के—गति में मनुष्यगति, इन्द्रिय में—पञ्चेन्द्रिय, काय में—ऋसकायिक, योग में ७ योग—सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचन योग, अनुभय वचनयोग, औदारिक, औदारिक-मिश्र और कार्मण काययोग हैं। वेद में—अवेद, कषाय में—अकषाय, शान में—केवलशान, संयम में—यथारूपातसंयम, दर्शन में—केवल-दर्शन, लेश्या में—एक शुक्ल लेश्या, भव्य-अभव्य में से अरहन्त भव्य ही है, अरहन्त के क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है, संज्ञी-असंज्ञी में से वे संज्ञी ही है तथा आहारक अनाहारक के दोनों भेद अरहन्तों के सम्मव हैं क्योंकि

तृष्ण

सामान्य रूप से अरहंत आङ्गूष्ठक हैं, समुद्घात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में भी अनाहारक ही हैं।

प्राणों की अपेक्षा अरहंत के—पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु, श्वासो-च्छ्वास दसों प्राण हैं अथवा भावप्राणों के (इन्द्रिय-मन) भ्राव अपेक्षा ४ प्राण भी हैं—

वनब्रल, कायब्रल, आयु, श्वासोच्छ्वास।

अरहंत देव छहों पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा त्रैर वन) से लाभूद हैं, जबकि इन्हीं दस के बिना चार पर्याप्तियाँ भी उनकी मानी जाती हैं।

जीवस्थान की अपेक्षा अरहंत पञ्चेन्द्रिय मनुष्य कहलाते हैं।

इस प्रकार बोस प्ररूपण, शत, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, मात्र, अल्पबहुत्व, निर्देशस्वामित्व, साधन, अधिकरण, मिथ्यति, विधान आदि का आश्रय करके ध्येय अरहंत का ध्यान चिन्तन भव्यात्मा जीवों को अवश्य करता चाहिये।

अरहंतवेद के ध्यान से मोक्ष की प्राप्ति

वीतरागोऽप्यथं देको ध्यायमानो मुमुक्षुभिः ।

स्वर्गपितर्गफलदः शक्तिस्तस्य हि तादृशो ॥१२९॥

अर्थ—मोक्ष को इच्छा करने वाले लोगों के द्वारा ध्यान किये गये ये वीतराग देव भी स्वर्ग एवं मुक्ति रूप फल को देने वाले हैं, क्योंकि उनकी वेसी शक्ति है ॥ १२९ ॥

विशेष—जो जाणदि अरहंतं दृश्वत् गुणतं पञ्चयत्तेहि ।

द्विः - त्रीं जाणदि अणाणं मोहं खलु जादि तस्मलयं ॥

जो अरहंत को उनके द्रव्य, गुण, पर्याय से जानता है, उनका ध्यान करता है, व सम्बसरण में स्थित अरहंत की निस्पृहता का ध्यान करता है वह संसार शरीर भोगों से उदासीन हो अरहंत का दास बनता है। प्रभु के गुणों का ध्यान करता हुआ निज स्वरूप की ओर लक्ष्य देता है—

“यः परमात्मा स एवाहं”

सोऽहं की भूमिका में अपने को स्थापित करता है तथा योऽहं स परमस्ततः ।

“अहमेव मयो पास्यो, तात्पर्य कस्त्वदिति स्थिति” द्वारा निजानन्दमय,

देह-देवालय स्थित निज प्रभु की प्राप्ति कर सिद्ध ब्रह्मस्था को प्राप्त करता है—

दासोऽहं रटता प्रभु, आया जब तुम पास,
दा दर्शन से हट गया, सोऽहं रहा प्रकाश ।
सोऽहं सोऽहं रटत हो रह न सक्यो सकार,
अहं दीपमय हो गयो, अविनाशी अविकार ॥

ध्येय आचार्य उपाध्याय साषु का स्वरूप

सम्यग्ज्ञानादिसम्पन्नाः प्राप्तसप्तमहृद्यः ।

तथोक्तस्त्वलक्षणाः ध्येयाः सूर्युपाध्यायसाध्याः ॥१३०॥

अर्थ—उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान आदि से सम्पन्न, सातों महान् ऋद्धियों को प्राप्त तथा अमग्न में कथित लक्षणों वाले आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का भी ध्यान करना चाहिये ॥ १३० ॥

विशेष—प्रब्रह्मतरुपो समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमात्मा के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गयी है जो निर्दोष छः आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेह के समान निष्कंप हैं, शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, श्रेष्ठ हैं, देश कुल जाति से शुद्ध हैं, सौम्य हैं, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से रहित हैं आकाश के समान निर्लेप हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठो होते हैं । जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रह अर्थात् शिक्षा या प्रायशिच्चत देने में कुशल हैं वे आचार्य परमेष्ठी हैं । (ध० १)

ज्ञानकांडे क्रियाकांडे चातुर्वर्षं पुरः सरः ।

सूरिदेव इवाराध्यः संसाराभितरण्डकः ॥

ये आचार्यपरमेष्ठों सम्यक्ज्ञान व चारित्र से सम्पन्न होकर बढ़ती हुई परिणामों की विशुद्धता से बुद्धि, ऋद्धि, क्रिया ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि, तप ऋद्धि, बल ऋद्धि, औषधि ऋद्धि, रस ऋद्धि और क्षेत्र ऋद्धि आदि महाऋद्धियों को प्राप्त करते हैं । आचारत्वादि आठ स्थितिकल्प दस, तप बारह और छह आवश्यक इस प्रकार आचार्य परमेष्ठों के छत्तीस गुण माने गये हैं—१. आचारवान् २. आधारवान् ३. ध्यवहारवान् ४. प्रकारक ५. आयापायदर्शी ६. उत्पोदक, ७. सुखकारी और ८. अपरिक्षावी ९. अचेष्टकर्त्त्व १०. उद्दिष्टशास्त्रा ११. उद्दिष्ट आहार त्याग १२. राजपिण्ड

त्याग १३, कृतिकमं प्रवृत्त १४, असरोपण अहूर्थ १५, प्रतिक्रमण १६, उपेष्ठलत्व १७, मासैकदासिता १८, पर्या । १२ तप-अनशन, उलोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शब्द्यासन, कायकलेश, प्रायशिचित्त, विनय, वैष्णववृत्त, व्युत्सर्ग, ध्यान तथा ६ आवश्यक—समरा-वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग $= 8 + 10 + 12 + 6 = 36$ । अथवा—५ पंचाचार, १० धर्म, तप १२, गुप्ति ३ व आवश्यक छः । इस प्रकार भी आचार्य परमेष्ठी के ३६ मूलगुण माने जाये हैं । इन गुणों के आश्रय से आचार्य परमेष्ठी ज्येष्ठ हैं ।

उपाध्याय परमेष्ठी

जो साधु चाँदहु पूर्वली समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित हैं, तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंघरों अर्थात् भुनियों को उपदेश देते हैं उन मुनीश्वरोंको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं । (ध० ११, १, १।३२५०)

उपाध्याय शंका समाधान करने वाले, सुवनता, वामाह्य, सर्वज्ञ और सिद्धान्त, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र और यावत् आगमों के पार-गामी वातिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करनेवाले होने से कवि अर्थ में मषुरता का द्वोतक तथा वक्तृत्व मार्ग के अग्रणी होते हैं ।

११ अंग और १४ पूर्व के ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठी के २५ मूलगुण होते हैं । २५ मूलगुणों के आश्रय से ज्येष्ठ उपाध्याय परमेष्ठी ज्यान के योग्य हैं ।

साधु परमेष्ठी

सिंह के समान पराकमो, गज के समान स्वाभिमानी या उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी वृत्ति करनेवाले, पवन के समान निःसंग या सब जगह बेरोक टोक विचरने वाले, सूर्यसन तेजस्वी, सकल तत्त्व प्रकाशक, सागरसम गम्भोर, मेह सम अकम्प व अडोल, चन्द्रमा के समान शान्तिदायक, मणि के समान प्रभापुञ्जयुक्त, क्षिति के समान सर्व प्रकार की बाधाओं को सहनेवाले, सर्व के समान, अनियत वस्तिका में रहनेवाले, आकाश के समान निरालम्बी व निलेप और सदाकाल परमपद का अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं । (ध० १११, १ गाथा)

अमण, यति, ऋषि, मुनि, साधु, बीतराग, अनगार, भद्रन्त, दान्त व
यसि ये साधु के पर्यायिकाची हैं।

५ महावत, ५ समिति, ५ इन्द्रियरोध, ६ आवश्यक, ७ शेष गुण
साधु परमेष्ठी के मुख्य गुण हैं। इन २८ गुणों का आश्रम करके ध्येय
साधु परमेष्ठी ध्यान के योग्य हैं।

ग

ध्येय पदार्थ अतुर्विषय अथवा अन्यायेका द्विविषय
एवं नामादिभेदेन ध्येयमुक्तं अतुर्विषयम् ।
अथवा द्रव्यभावाभ्यां द्विधैव तदवस्थितम् ॥१३१॥

अर्थ—इस प्रकार नाम आदि (नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव)
के भेद से ध्यान करने योग्य पदार्थ जार प्रकार का कहा गया है अथवा
द्रव्य एवं भाव के भेद से वह दो प्रकार का ही अवस्थित है ॥१३१॥

भाव ध्येय

द्रव्यध्येयं बहिर्बस्तु वेतनाद्येतनात्मकम् ।
भावध्येयं पुनर्ध्येयसञ्ज्ञभव्यातपर्ययः ॥१३२॥

अर्थ—वेतन और अचेतन रूप वाह्य पदार्थ द्रव्य ध्येय अर्थात् ध्यान
करने योग्य द्रव्य हैं और ध्येय के समान ध्यान का पर्याय अर्थात् ध्येय और
ध्यान की अभिन्नता भावध्येय या ध्यान करने योग्य भाव हैं ॥१३२॥

विशेष—गुण व पर्याय दोनों भाव रूप ध्येय हैं। ध्येय के सदृश ध्यान
की पर्याय भाव ध्येय रूप से परिगृहीत है।

सभी द्रव्यों के यथावस्थित गुणपर्याय ध्येय हैं—

बारसअणुपेवसाऽम्, उवसमसेडिरवगसेडिचकविहाणं तेषीसवग्नाओ
पञ्चपरियद्वाणि टुदिअणुभागप्रडिपदेसादि सब्वं पि ज्ञेयं होदि त्ति
ददुव्वं ।—बारहु अनुप्रेक्षाएँ, उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरोहण-
विषि, तेहस वर्गणाएँ, पांच परिवर्तन, स्थिति, अनुभाग, प्रकृति और प्रदेश
आदि ये सब ध्यान करने योग्य हैं। (षष्ठा यु०)

रत्नत्रय व वैराग्य को भावनाएँ ध्येय हैं—जिसने पहले उत्तम प्रकार
से अन्यास किया है, वह पुरुष ही भावनाओं द्वारा ध्यान की योग्यता को
प्राप्त होता है। और वे भावनाएँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से
उत्पन्न होती हैं।

ज्ञान में भाने योग्य कुछ भावनाएँ—

उद्घमज्जलोए केह मज्जं ण अहयमेगामी ।

इह भावणाए जोई पावति हु सासर्य ठार्ण ॥८१॥

—मोक्षप्राप्त

अर्थ—ऊर्ज्व, मध्य और अधो इन तीनों लोकों में, मेरा कोई शी नहीं, मैं एकाकी आत्मा हूँ। ऐसी भावना करने से योगी व्याशवत् स्थान को प्राप्त करता है।

मैं अशरणरूप, अशृभरूप, अनित्य, दुखमय और पररूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इससे विपरीत है, इस प्रकार सामायिक में ज्ञान करना चाहिये। (रत्नकरणद्वावकाचार)

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रियोचरः ॥

बाह्यः संयोगात्मा आत्मा भृतः सर्वेषामि सर्वदा ॥ ८२ ॥ ५६ ३९

अर्थ—मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, ज्ञानी योगीन्द्रियों के ज्ञान का विषय हूँ। इनके सिवाय जितने भी स्त्री-धन आदि संयोगी भाव हैं वे सब मुझके सर्वथा भिन्न हैं। (सामायिक प० ५० २० २६)

मैं निश्चय से सदा एक, शुद्ध, दर्शन ज्ञानात्मक और अरूपी हूँ, मेरा परमाण मात्र भी अन्य कुछ नहीं है। मैं न पर पदार्थों का हूँ, और न पर पदार्थ मेरे हैं, मैं तो ज्ञानरूप अकेला ही हूँ। न मैं देह हूँ, न मन हूँ, न ज्ञानी हूँ और न उनका कारण ही हूँ। न मैं पर पदार्थों का हूँ और न पर पदार्थ मेरे हैं। यहीं मेरा कुछ शी नहीं है। जो केवलज्ञान व केवलवर्णन स्वभाव से युक्त सुखस्वरूप और केवल वीर्यस्वभाव हैं वहीं मैं हूँ। इस प्रकार ज्ञानी जीव को विचार करना चाहिये।

मैंने अपने ही विभ्रम से उत्पन्न हुए रामादिक अनुल बन्धनों से बैंधे हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसार रूप दुर्गम मार्ग में विडम्बना रूप होकर विपरीताचरण किया। यद्यपि मेरा आत्मा परमात्मा है, परं ज्योति है, अगत्येष्ठ है, महान् है, तो भी बत्तमान देखनेमात्र की रमणीक और अन्त में नीरस ऐसे इन्द्रियों के विषयों से ठगाया गया हूँ। अनन्तचतुष्ट्यादि गुण समूह मेरे तो विकित की अपेक्षा विद्यमान हैं और अहंत् सिद्धों में वे ही व्यक्त हैं। इतना ही हम दोनों में भेद है। न तो मैं नारकी हूँ, न श्री व्यक्त हैं। इतना ही हम दोनों में भेद है। न तो मैं नारकी हूँ, न श्री व्यक्त हैं और न मनुष्य या देव ही हूँ किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ। ये सब अवस्थाएँ तो कर्म विपाक से उत्पन्न हुई हैं। मैं अनन्तवीर्य-अनन्त विज्ञान,

अनन्त दर्शन व अनन्त आनन्द स्वरूप हैं। इस कारण क्या विषयक के समान इन कर्म शाश्रुओं को जड़मूल से न उखाड़ें।

बन्ध का विनाश करने के लिए विशेष भावना कहते हैं—मैं तो सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ, निविकल्प तथा उदासोन हूँ। निरंजन निज शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धाने ज्ञान व अनुष्ठानरूप निश्चय रत्न-त्रयात्मक निविकल्प समाधि से उत्पन्न बोतराग सहजानन्दरूप मुखानुभूति ही है लक्षण जिसका, ऐसे स्वसंवेदनज्ञान के गम्य हैं राग, द्वेष, भोग, क्रोध, मान, माया व लोभ से तथा पञ्चेन्द्रियों के विषयों से, मनोबचनकाय के व्यापार से, भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित हैं। रूपाति पूजा लाभ से देखे सुने व अनुभव किये हुए भांगों की आकृक्षा रूप निदान, माया, मिथ्या इन तीन शल्यों को आदि लेकर सर्व विभाव परिणामों से रहित हैं। तिहुँ लोक, तिहुँ काल में मन, बचन, काय तथा कृत, कारित, अनुशोदना के द्वारा शुद्ध दिश्चरण में बूझ हैं। इसी प्रकार सब जीवों को भावना करनी चाहिये।

ध्यान में ध्येय की स्फुटता

ध्याने हि विभ्रते स्थैर्यं ध्येयरूपं परिस्फुटम् ।

आलेखितमिवाभाति ध्येयस्यासन्निष्ठादपि ॥१३३॥

अर्थ—ध्यान करने योग्य पदार्थ के समीप न रहने पर भी ध्यान करके योग्य पदार्थ स्पष्ट रूप से ध्यान में स्थिरता को प्राप्त हो जाता है और चित्तलिखित के समान प्रतीत होता है ॥१३३॥

पिण्डस्थ ध्येय का स्वरूप

धातुपिण्डे स्थितप्रचेत्त ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।

ध्येयपिण्डस्थमित्याहृतएव च केवलम् ॥१३४॥

अर्थ—इस प्रकार चूंकि धातुपिण्ड में स्थित ध्यान करने योग्य पदार्थ का ध्यान किया जाता है, इसलिये इसे केवल ध्येय पिण्डस्थ कहते हैं ॥१३४॥

ध्याता ही परमात्मा

यद्यपि ध्यानबलाव् ध्याता शून्योऽकृत्य स्वविग्रहम् ।

ध्येयस्वरूपाविष्टस्वात् तावृक् संपदाते स्वयम् ॥१३५॥

तदा तथाविष्टध्यानसंवित्तिष्ठवरुतक लप्नः ।

स एव परमात्मा स्थाद् वैनतेयश्च मन्मथः ॥१३६॥

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।

एतदेव समाधिः स्थाल्लोकद्वयफलप्रदः ॥१३७॥

अर्थ— ध्यान करने वाला व्यक्ति, ध्यान के बल से अपने शरीर को शून्य कर जिस समय छ्येय स्वरूप से आविष्ट हो जाता है उस समय वह स्वयं भी वैसा (छ्येय स्वरूप) बन जाता है इतना ही नहीं किन्तु उस समय उस प्रकार की ध्यान रूपी संवित्ति से कल्पनाओं को नष्ट करते हुए वही ध्याता, परमात्मा शिव, गृहण व मन्मथ (काम) रूप हो जाता है। अस इसी परिणति को समरसो भाव, तदेकीकरण कहते हैं। अर्थात् जो ऐसे छ्येय का ध्यान करता है वह स्वयं ही वैसा बन जाता है। यही लोकद्वय (इहलोक-परलोक) में फल को देने वाली समाधि कही जाती है ॥१३५-१३७॥

तत्र छ्येय माध्यस्थ

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा अद्वाय तस्यतः ।

छ्येयं समस्तमप्येतन्माध्यस्थं तत्र विभृता ॥१३८॥

अर्थ— उदाहारण कहने (विवेचन करने) से क्या लाभ, अरे, परमार्थ से जानकर व अद्वाय कर उनमें माध्यस्थ भाव को धारण करने वाले के लिये सारे ही पदार्थ छ्येय हो सकते हैं ॥१३८॥

माध्यस्थ के पर्यायिकाची नाम

माध्यस्थं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्युहः ।

वैतृष्ण्यं परमः शान्तिरित्येकोऽयोऽभिधीयते ॥१३९॥

अर्थ— माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, समता, निष्पृहता, विष्टृणा और परम शान्ति ये सभी एकार्थक या पर्यायिकाची कहे जाते हैं ॥१३९॥

परमेणिठयों के व्याम से तत्र ध्यान सिद्ध

संक्षेपेण यदग्रोवतं विस्तारात्परमागमे ।

तत्सर्वे व्याममेव स्थाद् ध्यातेषु परमेणिषु ॥१४०॥

अर्थ— जो यहीं संक्षेप में कहा गया है, वह परमागम में विस्तार से

कहा गया है। परमेष्ठियों का ध्यान करने से वह सभी ध्यान हो जाता है॥ १४०॥

विशेष—अरहा सिद्धायरिया उज्जाया साधु पंचपरमेष्ठी ।

ते यि हु चिह्नहि आदे तम्हा आदा हु मे सरण ॥१०४॥

—मोक्ष प्रा०

बरहंत सिद्ध आचार्य परमेष्ठी के ध्यान से स्वात्मतत्त्व की सिद्धि हो आत्मा परमात्मा बन जाता है। अहंत्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु ये पाँच परमेष्ठी भी जिस कारण आत्मा में स्थित हैं, उस कारण आत्मा ही मेरे लिये शरण है।

तात्पर्य यह कि अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी हमारे हृष्ट देवता हैं, ध्येय हैं सो ये सभी स्वात्मा में स्थित हैं। अर्थात् आत्मा की ही परिणति रूप हैं। ये पाँचों मेरे साध्य की सिद्धि में हृष्ट ध्येय हैं क्योंकि—केवलज्ञानादि गुणों से विराजमान होने तथा समस्त भव्यजीवों के संबोधन में समर्थ होने से मेरी यह आत्मा ही अरहंत है। समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त होने से निश्चयनय की अपेक्षा मेरी आत्मा ही सिद्ध है। दीक्षा और शिक्षा के दायक होने से पञ्चाचार के स्वर्यं आचरण तथा दूसरों को आचरण कराने में समर्थ होने से और सूरिमंत्र तथा तिलकमंत्र से तन्मय होने के कारण मेरी आत्मा ही आचार्य है। शुतज्ञान के उपदेशक होने से, स्वपर मत के जाता होने से तथा भव्यजीवों के संबोधक होने से मेरी आत्मा ही उपाध्याय है और रत्नक्रय के आराधक होने से सर्वेषान्दों से रहित होने से, दीक्षा-शिक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि अनेक धर्म कार्यों की निश्चिन्तता से तथा आत्मतत्त्व की साधकता से मेरी यह आत्मा ही साधु है। इस प्रकार परमेष्ठियों के ध्यान से ध्याता स्वर्थ तदरूप हो सर्वसिद्धि को प्राप्त हो जाता है—अहंदस्वरूपोऽहं, सिद्ध-स्वरूपोऽहं, आचार्यस्वरूपोऽहं, उपाध्यायस्वरूपोऽहं, साधुपरमेष्ठी-स्वरूपोऽहं। सोऽहं, अहं, परमानन्द स्वरूपोऽहं।

निश्चयनय की अपेक्षा स्वावलंबन ध्यान के कथन की प्रतिक्रिया

ध्यानहुरनयादेवं ध्यानमूक्तं पराश्रयम् ।

निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते ॥ १४१ ॥

अर्थ—इस तरह अभी तक जिस ध्यान का वर्णन किया गया वह सब अवहारनय से कहा हुआ ध्यान समझना चाहिये कारण कि उसमें पर का

दूसरे का आलम्बन लेना पड़ता है। अब निश्चय नय से ध्यान का वर्णन किया जाता है जिसमें स्व-स्वरूप का आलम्बन हुआ करता है।

कुवता ध्यानशब्दार्थं यद्ग्रहस्यमवादिस्त् ।
तथापि स्पष्टमारुपातुं पुनरप्यभिषीयते ॥ १४२ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्यान शब्द का अर्थ समझाते हुए, उसमें जो रहस्य या उसे कह दिया गया है तथापि स्पष्ट रूप से कथन करने के लिए फिर भी कुछ कहते हैं।

स्व को जाने-वेत्ते-शब्दा करे
विद्धासुः स्वं परं आत्मा अद्वाय च यथास्थितिम् ।

चिह्नायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पद्यतु ॥ १४३ ॥

अर्थ—ध्यान करने को इच्छा रखने वाले अवित को चाहिये कि वह स्व-पर को जैसी उनकी स्थिति है उस ढंग से, जाने व अद्वा करे। फिर दूसरे पदार्थों को अपने प्रयोजन का असाधक (सिद्ध करने वाला नहीं) समझ छोड़ते हुए, अपने आपको ही जाने व उसकी अद्वा करे। ॥ १४३ ॥

विरम-विरम बाह्यादि पदार्थं,
रम-रम मोक्षपदे च हितार्थं,
कुरु-कुरु निजकार्यं च वितन्द्रं,
भव-भव केवलबोध यतीन्द्र ॥ १४४ ॥ —४० म०

हे भव्यात्मन् ! यदि तू ध्यान की इच्छा करता है, ध्यान की सिद्धि चाहता है तो बाह्य—संसार, शरीर भोगों से विश्राम ले, विश्राम ले। तू स्त्री-मुनि, महूल, मकानादि जो बाह्य पदार्थ हैं उनसे अपनी प्रबुत्ति को हटा, राग को दूर कर, विरक्ति रूप परिणामों की वृद्धि कर, हितकारक जो आत्मा के असली वास करने का स्थान शिव पद है, उसमें ही लौ को लगा, वही क्लोड़ा कर, आलस्य रहित हो, स्व आत्म स्वरूपावलोकन रूप जो अपना कार्य है उसे पूरा कर, अन्त में केवलज्ञान को प्राप्त कर यतियों के इन्द्रत्व पद को प्राप्त कर।

और भी कहते हैं—मुं च मुं च विषयाभिषमोगम्
लुंप लुंप निजतुष्णारोगम्
हंध रुंध मानसमातंगम्
धर-धर जीव विमलतरयोगम् ।—४१ ११

हे प्राणी ! धृणित, इन्द्रिय विषय रूपी मांस का उपभोग करना तू छोड़ दे, अपने तृष्णा रूपी रोग को दूर हटा, मद से मदोन्मत्त मानस मतंग (हाथी) मनरूपी चाण्डाल को ज्ञानांकुश (ध्यानांकुश) से बच में कर, अत्यन्त निर्मल स्व आत्मा का ध्यान कर जिससे संसार से पार हो सके ।

पूर्वं श्रुतेन संस्कारं स्वात्मन्यारोपयेत्ततः ।

तत्रैकाग्रं समाप्ताद्या न किञ्चिद्दपि चिन्तयेत् ॥ १४४ ॥

अर्थ—सर्व प्रथम श्रुतज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा में संस्कार करे अर्थात् आत्मा में श्रुतज्ञान का संस्कार करे और तदनन्तर उसमें एकाग्र होकर कुछ भी चिन्तन न करे ॥ १४४ ॥

विवेष—अष्टपादुड़ में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी मुनियों को सम्बोधन देते हुए कहते हैं हे मुने ! ध्यान की सिद्धि करना चाहते हो तो सार को ग्रहण करो, असार का त्याग करो । सार क्या है असार क्या है ?

आलोचना सार है, आलोचना नहीं करना असार है । परनिन्दा असार है, निज निन्दा करना सार है, मुरु के आगे अपने दोष नहीं कहना असार है, मुरु के आगे दोष कहना सार है, प्रतिक्रमण नहीं करना असार है, प्रतिक्रमण करना सार है, गृहीत व्रतों में दोष लगाना (विराधना) असार है, आराधना सार है । मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान असार है, सम्यदर्शन ज्ञान सार है । मिथ्याज्ञारित्र व कुतप असार है, सम्यक्चारित्र व कुतप सार है । अयोग्य कार्य असार है, योग्य कार्य सार है । प्राणधात असार है, अभयदान सार है, असत्य भाषण असार है, सत्य भाषण सार है । अदत्त ग्रहण असार है, दी हुई वस्तु का ग्रहण सार है । मैथुन असार है, अहृत्यर्थ सार है । परिघह असार है, निर्गन्थपना सार है । रात्रि में भोजन असार है, दिन में एक बार प्रामुख भोजन करना सार है । जार्ता-रीढ़ ध्यान असार है, धर्म्य-जूक्लध्यान सार है । कृष्ण, नील, काषोत लेश्या असार है, तेज पश्यशुक्ल लेश्या सार है । आरम्भ असार है, अनारम्भ सार है, असंयम असार है, संयम सार है । वस्त्र सहित असार है, वस्त्र रहित सार है । केशलोच सार है, केशलोच नहीं करना असार है । स्नान असार है, अस्नान सार है, क्षोधादि कषायें असार हैं । क्षमा, मार्दव, आर्जव, शोच भाव सार है । अशील असार है, सुशील सार है, शत्र्य असार है, निशत्र्य सार है । अमुक्ति संसार असार है, मुक्ति सार है, असमाधि असार है, सुसमाधि सार है । ममत्व असार है, निर्ममत्व सार है । —(१०८ गा० सं० दीका)

इस प्रकार श्रुति के द्वारा सार अदाद को जातिकर तथा ग्रहण कर असार त्याग निःकेवल ज्ञानानदमयी निजानन्दस्वभावी चिदानन्द स्वरूप में लोन हो—

मा चिदुह मा जंपहु, मा चितहु कि वि जेण होइ यिरो ।

अप्या अप्पम्म रक्षो इषमेव पर हवे आर्ण ॥ ५६ ॥

—द्रव्यसंग्रह

किसी प्रकार की चेष्टा न करो, किसी प्रकार का अन्तर्जल्प भी न करो, किसी प्रकार की चिन्ता भी न करो क्योंकि आत्मस्वभाव में स्थिर हो जाओ। आत्मा का आत्मा में रत होना ही परम ध्यान है।

इरो मत श्रुतज्ञान की भावना करो

यस्तु नालम्बते श्रौतों भावनां कल्पनाभयात् ।

सोऽवश्यं मुहृष्टि स्वस्मिन् अहिप्रिच्छन्तां विभर्ति च ॥ १४५ ॥

अर्थ—जो कल्पनाओं के डर से कि यदि आत्मा को अनेक विशेषणों वाला ल्याल कर्हेगा तो चित नाना कल्पनाओं के जाल में फैस जायगा, श्रुत सम्बन्धी भावनाओं का आलम्बन नहीं लेता वह अवश्य ही अपने (आत्मा के) विषय में मोह (अज्ञान) को प्राप्त हो जाता है और अन्य बाहिरी चिन्ताओं को करने लग जाता है ॥ १४५ ॥

विशेष—अरहंत तोर्धकर भगवान् ने जिसका अर्थरूप से प्रतिपादन किया है और चार ज्ञान के धारी अष्टमहाद्वियों से सहित तोर्धकरों के युवराज-स्वरूप गणधरोंने जिसकी द्वादशांग रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। भावसूत्र और द्रव्यसूत्र की अपेक्षा सूत्र के दो भेद हैं—तोर्धकर परमदेव के द्वारा प्रतिपादित जो अर्थ है वह भावसूत्र अथवा भावश्रुत है और गणधर देवों के द्वारा द्वादशांग रूप जो रचना हुई है वह द्रव्यसूत्र या द्रव्यश्रुत है । (सूत्र प्रा० टीका)

सुतं हि जाणमाणो भत्रस्स भवणासर्ण च सो कुण्डि ।

सूईं जहा असुता णासदि सुते सहा णोवि ॥ ३ ॥ सू० पा० ।

जिस प्रकार वस्त्र में छेद करने वाली लोहे की सुई ढारा से रहित होने पर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार सूत्र-शास्त्र की भावना या शास्त्र ज्ञान से रहित मनुष्य नष्ट हो जाता है । हे भव्यारम्भाओं ! श्रुतज्ञान की भावना पुनः-पुनः करो क्योंकि जो सच्चे शास्त्र को जानता है वह संसार का नाश करता है ।

आत्मभावना करो

तस्मान्मोहप्रहाणाय च हितिभ्तानिवृत्ये ।

स्वात्मानं भावयेत्पूर्वमेकाग्रशस्य च सिद्धये ॥ १४६ ॥

अथ——इसलिए मोह को नष्ट करने के लिये, बाहरी चिन्ताओं की निवृत्ति करने (हटाने या दूर करने) के लिये तथा एकाग्रता की प्राप्ति के लिये सबसे पहले अपने आपको आगे कहे माफिक भावित-भावना-युक्त करें ॥ १४६ ॥

आत्मभावना कैसे करें ?

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिर्जितः ।

शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शीनलक्षणः ॥ १४७ ॥

अथ——जैस कि—मैं चेतन्य हूँ, असंख्यातप्रदेशों वाला हूँ, अमूर्तिक हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, सिद्धस्वरूप हूँ और ज्ञानमय एवं दर्शनमय हूँ ॥ १४७ ॥

विशेष—(१) अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व ये छः गुण तो जीवादि छहों द्रव्यों में पाये जाते हैं किन्तु ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य एवं चेतन्य के बल जीव द्रव्य में ही पाये जाते हैं। पुद्गल की अपेक्षा अमूर्तिकपना भी जीव में विशेष गुण है। सर्वज्ञेय को एक साथ जानने की योग्यता ज्ञान है, उनके सामान्यज्ञान को दर्शन कहते हैं। परम निराकुल अतीन्द्रिय ज्ञान का भोग सुख है। स्व स्वभाव में रहना, परमध्याद रूप न होना तथा स्वभाव में परिणमन को अनन्तशक्ति होना सो वीर्य है। आत्म स्वभाव के अनुभव को चेतन्य कहते हैं। जीव के इन्हीं विशिष्ट गुणों का वर्णन उक्त कारिका में किया गया है। पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है—

‘स्वसंबोद्दनसुव्यक्तस्तनुमाश्रो निरत्ययः ।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥’ २१ ॥ —इष्टेष्वेष

(२) आत्मा परभाव एवं परकार्य का कर्ता नहीं है और मोक्षता भी नहीं है। मन-चेतन-कायं के निमित्त से योग होता है। योग से क्षिया होती है और तब अशुद्धोपयोग के कारण आत्मा अपने को कर्ता भीक्षता समझने लगता है। वस्तुतः आत्मा तो उक्त श्लोक में वर्णित स्वरूप वाला है।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।

अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥ १४८ ॥

अर्थ—मैं परस्वरूप नहीं हूँ, अन्य मम स्वरूप नहीं है, मैं पर पदार्थ का नहीं हूँ, मेरा पर द्रव्य नहीं है, पर द्रव्य पर है और मैं तो मैं ही हूँ। अन्य द्रव्य अन्य का है और मैं अपना हूँ ॥ १४८ ॥

चिह्नोदय—न मैं नारक भाववाला हूँ, न मैं तिष्ठेच हूँ, न मनुष्य, देव, नारकी पर्यायवाला हूँ, न मैं पर का कर्ता हूँ, न कारिधता—^{उत्तर}न करने वाला हूँ, न मैं उनकी अनुमोदना करने वाला हूँ। न मैं मार्गस्थिति स्वरूप हूँ, न गुणस्थान रूप हूँ, न जीवस्थानरूप हूँ। न जीवादि पर द्रव्य रूप हूँ, न पर द्रव्य (चेतन-अचेतन-मिश्र) मुझ रूप हैं। न मैं बालक हूँ, न बृद्ध हूँ, न कर्ता हूँ, न करनेवाला हूँ और न अनुमोदक हूँ। न मैं राग रूप हूँ, न द्वेष रूप हूँ, न क्रोध रूप हूँ, न माता रूप हूँ, न पाता रूप हूँ, न लोभ हूँ। मैं कौन हूँ ?

एगो मे सासगो आदा णाण दंसण लक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा सब्वे संजीगलक्खणा ॥

मैं एक शाश्वत आत्मा हूँ, अन्य कोई मुझ रूप नहीं, मैं पर रूप नहीं हूँ। मैं ज्ञान-दर्शन लक्षण वाला हूँ। ज्ञान दर्शन के अलावा शेष समस्त भाव विभाव हैं, मुझ से बाहर हैं, संशोध मात्र हैं। अन्य अन्य का है, मैं मेरा हूँ, मैं मुझ में हूँ, मैं अपने को अपने से अभिन्न देखता हुआ उसी मैं लीनता को प्राप्त होता हूँ।

अन्यच्छुरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनम् ।

अनेकसेतदेकोऽहं क्षयोदमहमक्षयः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शरीर अलग है और मैं अलग हूँ। मैं चेतन हूँ और शरीर अचेतन है। यह अनेक है और मैं एक हूँ। यह विनाशवान् है और मैं अविनाशी हूँ ॥ १४९ ॥

अचेतनं भवेनाहं नाहमन्यस्यचेतनम् ।

ज्ञानात्माहं न मे कदिच्चन्नाहमन्यस्य कस्यचित् ॥ १५० ॥

अर्थ—सुंसार में परिज्ञान करने के कारण मैं अचेतन सा हो गया हूँ किन्तु मैं अचेतन नहीं हूँ। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है और अन्य किसी का मैं भी नहीं हूँ ॥ १५० ॥

चिह्नोदय—अहमिको लज्जा सुदो दंसणाणमइओ सदा रुद्धी ।

णवि अस्त्वि भज्जा किचिवि अण्ठं परमाणुमितं पि ॥

मैं निवाय से एक, सुद्ध, वर्णनज्ञानमयी, सदा अरुद्धी, अविनाशी

आत्मा हूँ। मेरा ज्ञात दर्शन स्वरूप ही मेरा है भुज से भिन्न एक परमाणु-
मात्र भी कोई पदार्थ मेरा नहीं है।

योऽत्र स्वस्वामिसम्बन्धो ममाभूद्वपुषा सह ।

यदच्चैकत्वभ्रमस्तोऽपि परस्मान्ते स्वरूपतः ॥ १५१ ॥

अर्थ—इस संसार में शरीर के साथ जो मेरा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध
हूँगा है और जो उक्ता वा अम है, वह भी परद्रव्य के सम्बन्ध से है,
स्वरूप से नहीं है ॥ १५१ ॥

जीवादिद्रव्ययात्म्य ज्ञातात्मकमिहात्मना ।

पद्यन्तात्मन्ययात्मानमुदासीनोऽस्मि वस्तुषु ॥ १५२ ॥

अर्थ—मैं अपने में जीव आदि द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप को जानते
बाले आत्मा को देखकर पर द्रव्यों के प्रति उदासीन हूँ ॥ १५२ ॥

सद्ग्रन्थस्मिं चिक्ष्वहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीनः ।

स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पूर्यगगानददमूर्तः ॥ १५३ ॥

अर्थ—मैं सद् द्रव्य हूँ, मैं चेतन्य हूँ, मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ किन्तु सदा
उदासीन रहने वाला हूँ। मैं प्राप्त हुए अपने शरीर प्रसाण हूँ। शरीर
पृथक् हुआ आकाश की तरह अमूर्तिक हूँ ॥ १५३ ॥

सन्नेवाहं सदाप्यस्मि स्वरूपादित्तुष्टयात् ।

असन्नेवास्मि ज्ञात्यन्तं पररूपाद्यपेक्षया ॥ १५४ ॥

अर्थ—स्वरूप चतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वदोत्र, स्वकाल एवं स्वभाव) से
मैं सदा अस्तित्व रूप ही हूँ और पररूप आदि (परद्रव्य, परदोत्र, परकाल
एवं परभाव) से सदा नास्तित्व रूप ही हूँ ॥ १५४ ॥

यन्न चेतयसे किञ्चिन्नाचेतयत् किञ्चन ।

यच्चेत्यपिलयसे नैव तच्छरीरादि नास्यहम् ॥ १५५ ॥

अर्थ—जो कुछ नहीं जानते हैं, न जिनसे कुछ जाना था और न भविष्य
में कभी जानेंगे। इस प्रकार त्रैकालिक अज्ञानता को लिये शरीरादिक हैं
वैसा मैं नहीं हूँ ॥ १५५ ॥

यदच्चेयतथा पूर्वं चेतिष्यति यद्यथा ।

चेतनीयं यदत्राद्य तत्त्वद्रव्यं समस्यहम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिसने पहले जाना था, जो आगे भविष्य में जानेगा तथा यत्सामान में चितन करने योग्य है ऐसा मैं चिद् द्रष्टव्य हूँ ॥ १५६ ॥

विशेष—केवलज्ञान सहावो केवलदर्शनसहाव सुहमइओ ।

केवलसत्ति सहावो सोऽहं इदि चितये जाणी ॥ १६ ॥

—नियमसार

जो कोई केवलज्ञान स्वभाव है, केवलदर्शन स्वभाव है, परम सुखमय और केवलशक्ति अर्थात् अनन्तबीर्य स्वभाव है, वह मैं हूँ ऐसा जानी ध्याता आत्म भावना करे ।

णियभावं ण वि मुच्चव्व परभावं णेव गेष्वए केइ ।

जाणदि पस्सदि सध्वं सोऽहं इदि चितए जाणी ॥ १७ ॥

—नियमसार

जो आत्मभाव को कभी नहीं छोड़ता और परभाव को कभी भी छहण नहीं करता, परन्तु सबको जानता देखता है वह मैं हूँ ऐसा विचार जानी ध्याता को करना चाहिये ।

स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तुपेक्ष्यमिदं जगत् ।

नोऽहमेष्टा न च द्वेष्टा किन्तु स्वयमुपेक्षिता ॥ १५७ ॥

अर्थ—यह संसार अपने आप न तो इष्ट है और न ही अनिष्ट है अपिनु उदासीन रूप है मैं न तो राग करने वाला हूँ और न ही द्वेष करने वाला हूँ किन्तु उपेक्षा करने वाला अर्थात् उदासीन रूप हूँ ॥ १५७ ॥

मस्तः कायारथो भिन्नास्तेभ्योऽहमर्थि तत्त्वतः ।

नाहमेष्टां किमप्यस्मि ममाप्येते न किञ्चन ॥ १५८ ॥

अर्थ—शरीर आदि मुझ से भिन्न हैं और वास्तव में मैं भी उनसे भिन्न हूँ । मैं इनका कुछ भी नहीं हूँ और ये मेरे भी कोई नहीं हैं ॥ १५८ ॥

विशेष—ध्यान करने वाले को चाहिये कि पहले वह निर्विकल्प होने के लिए शरीर, पुत्र, मित्र, शिष्य, देश, ग्राम, मन्दिर, तीर्थ आदि पदार्थों को आत्मा से सर्वथा भिन्न माने तथा स्वयं को उनका या उन्हें अपना मानना छोड़े ।

एवं सम्यग्बिनिविच्छय स्वात्मानं भिन्नमन्यतः ।

विद्याय तन्मयं भावं न किञ्चिदपि विन्दये ॥ १५९ ॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य पदार्थों से मिन्न अपनी आत्मा का अच्छी तरह से निश्चय करके अपने माद को आत्ममय बनाकर अन्य किसी का भी चिन्तन नहीं करता है ॥ १५९ ॥

विशेष—ध्यान मिथ्रता का नाम है । अपने आत्मा में स्थिरता प्राप्त करने के लिए आत्मा को शुद्ध निश्चय स्वरूप की भावना करना चाहिये । भावना करते-करते जब मन स्थिर हो जाता है, तभी आत्मा का अनुभव होता है । यह ध्यान अल्प समय तक रहे तब भी उपकारी ही समझना चाहिये । क्योंकि ध्यान तो उत्तम संहनन वालों के भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रह सकता है, फिर हीन संहनन वालों की तो बात ही क्या ? उनकी भावना तो बहुत देर तक रह सकती है, परन्तु बीच-बीच में कुछ समय तक ही रह सकता है । अतः रागादि तथा बाह्य एवं आन्तरिक विकल्पों की छोड़कर मन को एकाग्र करके आत्मा के निरञ्जन स्वरूप का ध्यान करना चाहिये । श्री देवसेनाचार्य ने कहा है—

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियष्प मुत्तूण् ।

दसाप्तारं ज्ञाप्तहि विरयणं गिदयग्नाणं ॥ ८ ॥ —तत्त्वसार

चिन्ता का अभाव तुच्छभाव नहीं अपितु स्वसंवेदनरूप

चिन्ताभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्यावृशामिष ।

दुग्धोधसाम्यरूपस्य यत्स्वसंवेदने हि सः ॥ १६० ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टियों के समान जैन लोगों के यहीं चिन्ता के अभाव को तुच्छाभाव नहीं माना है कारण कि वह (चिन्ताभाव) सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान व साम्यभाव का जो स्वसंवेदन है, उस रूप माना गया है । तो चे की पंकित का ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि चिन्ताभाव अभाव रूप नहीं है वह तो दृग-बोध के साम्यरूप का जो स्वसंवेदन है उस रूप माना गया है । इस तरह वह निषेध रूप न होते हुए विधि रूप ही है ॥ १६० ॥

विशेष—तत्त्वानुशासन का प्रकृत कथन मूलतः तत्त्वार्थश्लोक-आर्तिक से प्रभावित रहा है । व्यानस्तव में कहा गया है—

'नानालम्बनचिन्ताया यदेकार्थे नियन्त्रणम् ।

उक्तं देव त्वया ध्यानं न जाह्यं तुच्छतापि वा ॥ ६ ॥

जस्वभावमुदासीनं स्वस्वरूपं प्रपरयता ।

स्फुटं प्रकाशते पुंसस्तत्त्वमध्यारम्बेदिनः ॥ ७ ॥'

अर्थात् अनेक पदार्थों का जालम्बन लेने वाली चिन्ता को जो एक ही

पदार्थ में नियन्त्रित किया जाता है, उसे हे देव ! आपने ध्यान कहा है । वह ध्यान न तो जड़तास्वरूप है और न तुच्छता रूप ही है । जीव का स्वरूप ज्ञानमय एवं उदासीन है । जो इसे देखता-जानता है, उस अध्यात्मवेदी को स्पष्ट रूप से तत्त्व प्रतिभासित हो जाता है । ध्यानस्तव के इन दो श्लोकों पर तत्त्वानुशासन के प्रकृत श्लोक का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

स्वसंबेदन का स्वरूप

वेद्यत्वं वेदकत्वं च यस्यस्य स्वेन योगिनः ।

तत्स्वसंबेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवं दशम् ॥१६१॥

अर्थ—योगियों को अपनी आत्मा का अपने द्वारा जो वेद्यत्व अर्थात् ज्ञान विषय होता और वेदकत्व अर्थात् ज्ञाता होता है, उसे स्वसंबेदन कहते हैं । सम्यदर्दशन रूप आत्मानुभव भी स्वसंबेदन कहलाता है ॥१६१॥

विवेष—अनुभव चिन्ताभणि रत्न अनुभव है रसकूप ।

अनुभव मारग भोक्ता का अनुभव भोक्तस्वरूप ॥

जिस समय आत्मानुभव प्राप्त होता है उस समय जीव की एक विचित्र दशा हो जाती है । छह रस का आनन्द सूख जाता है, पंचेन्द्रिय विषय अच्छे नहीं लगते हैं । गोष्ठी, कथा, कुतूहल आदि में मन नहीं रमता है, मन रूपी पंछी मर जाता है, ज्ञानानन्द का अमृत बरसता है, जो आत्मघट में नहीं समाता अर्थात् अतोन्द्रिय, अपूर्व आनन्द का रसास्वादन आता है जैसा कि कहा है—

आतम अनुभव आवे जब निज आतम अनुभव आवे,

और कछु न सुहावे जब निज आतम अनुभव आवे ।

रस नीरस हो जाय तत्क्षण अक्षविषय नहीं भावे ॥ १ ॥

गोष्ठी कथा कुतूहल सब विघटे, पुद्गल प्रीति नषावे ॥ २ ॥

राग-द्वेष युग चपल पक्ष युत, मन पंछी मर जावे ॥ ३ ॥

ज्ञानानन्द सुधारस उमरे छट अन्तर न समावे ॥ ४ ॥

जब निज आतम………………

स्वसंबेदन की अपितृपत्ता

स्वपरहस्यारूपत्वान्त तस्य कारणान्तरम् ।

तत्पितृता परित्यज्य स्वसंवित्यैव वेद्यताम् ॥१६२॥

अर्थ—स्वसंवेदन के आत्मज्ञान एवं परज्ञान रूप होने से अन्य कारण की आवश्यकता नहीं है, इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के द्वारा ही आत्मा को जानना चाहिये ॥१६३॥

दृष्ट्वोधसाम्यरूपत्वाज्जानन् पश्यन्तुदासिता ।

चित्सामान्यविशेषात्मा स्वात्मनेवानुभूयताम् ॥१६३॥

अर्थ—सम्यगदर्शन, सम्यगज्ञान एवं समता रूप होने से आत्मा जानना हुआ एवं देखता हुआ भी उदासीन रूप है । सामान्य एवं विशेष चैतन्य रूप है । ऐसे आत्मा का अपने आत्मा के द्वारा ही अनुभव करना चाहिये ॥१६३॥

कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहम् ।

जस्त्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥१६४॥

अर्थ—मैं कर्मों से उत्पन्न होने वाले सभी भावों से भिन्न हूँ । ज्ञाता स्वभाव एवं उदासीन आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना चाहिये ॥१६४॥

विशेष—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों से रहित सिद्ध होते हैं, जो लोकाग्र में अपने शुद्ध स्वरूप में विराजमान रहते हैं । वे परम शुद्ध ज्ञान रूप तथा निर्विकार होने से उदासीन होते हैं । ध्याता जब अपने को सिद्ध समान मनन करता है तो उसे स्वानुभव का प्रकाश मिलता है । देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में कहा है कि—

मलरहितो णाणमओ णिक्सइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।

तारिसओ देहत्यो परमो बंझो मुणेयव्वो ॥ २६ ॥

अर्थात् सिद्धगति में जैसे सिद्ध भगवान् सर्वमलरहित एवं ज्ञानस्वरूपी रहते हैं, वैसे ही अपनी देह में स्थित परम ब्रह्म को जानना चाहिये ।

जारिसया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीवतारिसा होैति ।

जरमरणजम्ममुक्का, अटुगुणलंकिया जैण ॥ ४७ ॥

घन्मध्याभिनिवेदोन मिथ्याज्ञानेन चोज्जितम् ।

तन्मध्यस्थ्यं निजं रूपं स्वस्मिन्संवेदात्ता स्वयम् ॥१६५॥

अर्थ—जो आत्मस्वरूप मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याज्ञान से रहित है, उसे माध्यस्थ्य कहते हैं । उसका आत्मा में अपने आप संवेदन करना चाहिये ॥१६५॥

न हीन्द्रियधिया दृश्यं रूपादिरहितत्त्वतः ।

वितर्कस्तन्त्रं पश्यन्ति ते ह्याविस्पष्टतर्कणाः ॥१६६॥

अर्थ——वह रूपादि रहित होने से इन्द्रिय जान द्वारा जाना नहीं जा सकता और देखा भी नहीं जा सकता । वितर्क भी उसे जान नहीं सकता और देख नहीं सकता । अतः ये वे वितर्क अस्पष्ट तर्कणारूप होते हैं ॥१६६॥

उभयस्मिन्निरुद्धे तु स्पाद्विस्पष्टमतीन्द्रियम् ।

स्वसंवेद्यं हि तद्रूपं स्वसंवित्त्यैव दृश्यताम् ॥१६७॥

अर्थ—आत्मा के दोनों (मात्रस्थ एवं उदासीनता) से भरपूर होने पर वह अतीन्द्रिय किन्तु अत्यन्त स्पष्ट होता है । निश्चय ही उसका स्वरूप स्वसंवेद्य होता है, इसलिये उसे स्वसंवेदन से ही देखना चाहिये ॥१६७॥

विशेष—दोनों (इन्द्रिय जान और वितर्क) को प्रवृत्ति रुक जाने पर, आत्मा का अतीन्द्रिय स्वरूप विशेष स्पष्ट हो जाता है । निश्चय से उसका वह स्वरूप स्वसंवेदन से जानने योग्य है अतः स्वसंवेदन को ही देखना चाहिये ।

वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासते ।

चेतना ज्ञानरूपेण स्वयं दृश्यत एव हि ॥१६८॥

अर्थ—शरीर का प्रतिभास या ज्ञान न होने पर भी ज्ञान स्वरूप यह चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकाशित होती है और स्वयं ही दिखाई देती है ॥१६८॥

समाधिस्थेन यथात्मा बोधात्मा नानुभूयते ।

तदा न तस्य तदृध्यानं मूर्च्छाद्विन् मोह एव सः ॥१६९॥

अर्थ—समाधि में विद्यमान या ध्यान लगाये हुए ध्याता के द्वारा यदि ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं किया जा रहा है तो उसका वास्तविक ध्यान नहीं है और वह परिग्रहासक्त मोही ही है ॥१६९॥

विशेष—ध्यानस्तव में भी कहा गया है—

समाधिस्थस्य यथात्मा ज्ञानात्मा नावभासते ।

न तद् ध्यानं स्वया देव गीतं मोहस्वभावकम् ॥ ५ ॥

अर्थात् समाधि में स्थित योगी को यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रति-भासित नहीं होती है तो मोह स्वभाव होने के कारण उसके ध्यान को यथार्थ ध्यान नहीं कहा जा सकता है। ध्यानस्तव के इस कथन का आधार तत्त्वानुशासन का प्रकृत शलोक ही है। इसमें शब्दगत एवं अर्थगत सम्बन्ध देखा जा सकता है।

तदेवानुभवंहकायमेकाग्रचं परमूच्छति ।

तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम् ॥१७०॥

अर्थ—उस (ज्ञानात्मा) का अनुभव करता हुआ यह उल्कुष्ट एकाग्रता को प्राप्त होता है और वाणी के द्वारा अकथनीय आत्मा के आधीन रहने वाले आनन्द को प्राप्त होता है ॥ १७० ॥

यथा निष्ठात्वेशस्थः प्रदीपो न प्रकाशते ।

तथा स्वरूपनिष्ठोऽयं योगी नैकाग्रद्यमुज्ज्ञति ॥१७१॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु से रहित स्थान में स्थित दीपक कम्पित नहीं होता है, उसी प्रकार अपने स्वरूप में लीन यह योगी एकाग्रता को नहीं छोड़ता है ॥ १७१ ॥

विशेष—ध्याता को चाहिये कि निष्ठयनय का आश्रय लेकर आत्मा को ध्यावे तो उसे आत्मा शुद्ध दिखलाई पड़ेगी। उपयोग अन्य सभी आत्माओं से हटाकर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वभाव में एकाग्र करे। क्योंकि शुद्धोपयोग की अवस्था में ही स्वानुभव रहता है और वही आत्मा का ध्यान है। निष्ठलता की स्थिति में ही आत्मा का ध्यान हो सकता है। वही बात यहीं पर कहो गई है। देवसेनाचार्य ने तत्त्वसार में एक अन्य उदाहरण द्वारा कहा है कि—

‘सरसलिले घिरभूए दीसइ णिह णिवडियं पि जहू रयणं ।

मणसलिले घिरभूए दीसइ वध्या तहा विमले ॥ ४१ ॥

अर्थात् जिस प्रकार तालाब के जल के निष्ठल हो जाने पर तालाब में पड़ा हुआ रत्न दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार मनरूपो पानी के स्थिर हो जाने पर निर्मल भाव में अपना अपना आत्मा दिख जाता है।

तदा च परमैकाग्रद्याद्बहुर्थेषु सत्स्वपि ।

अन्यन्न किञ्चनाभाति स्वमेवात्मानि पश्यतः ॥१७२॥

अर्थ—तब परम एकाग्रता धारण करने के कारण अपनी आत्मा में अपने आपको देखने वाले योगी को बाह्य पदार्थों के होने पर भी अन्य कुछ प्रतीत नहीं होता ॥ १७२ ॥

शून्याशून्य स्वभाव आत्मा की आत्मा के द्वारा प्राप्ति
अतएवान्यशून्योऽपि नात्मा शून्यः स्वरूपतः ।
शून्याशून्यस्वभावोऽयमात्मनैवोपलभ्यते ॥ १७३ ॥

अर्थ—इसलिये अन्य पदार्थों से शून्य होता हुआ भी यह आत्मा स्वरूप से शून्य नहीं है । शून्य एवं अशून्य स्वभाव कर्थचित् शून्य व कर्थचित् अशून्य को लिये हुए यह आत्मा आत्मा के द्वारा ही प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥

स्वात्मा ही नैरात्म्याद्वैत दर्शन
तत्त्वाच यज्जगुर्मुक्त्ये नैरात्माद्वैतदर्शनम् ।
तदेतदेव यस्तस्यगन्यापोहात्मदर्शनम् ॥ १७४ ॥

अर्थ—इसलिये जो मुक्ति के लिये नैरात्म्याद्वैत दर्शन माना जाता है वह यही तो है । जो भले प्रकार से, अन्य पदार्थों से रहित आत्मा का दर्शन होता है अर्थात् अन्य पदार्थों से रहित केवल स्वात्मा के दर्शन करने को ही तो नैरात्म्याद्वैत दर्शन कहते हैं ॥ १७४ ॥

विशेष—भाव यह है कि प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्यों का अभाव रूप होता है । आत्मा भी आत्मा से भिन्न पदार्थों का अभावरूप है । इस कारण अपना आत्मा अन्य आत्मा के अभाव रूप होने से नैरात्म्याद्वैत दर्शन कहुलाता है ।

स्वात्मा ही नैर्जगत्य
परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावाः कर्थड्यन ।
नैरात्म्यं जगतो यद्वन्नैर्जगत्यं तथात्मनः ॥ १७५ ॥

अर्थ—किसी प्रकार से सभी भाव या पदार्थ परस्पर परावृत्तरूप हैं, अतः जैसे जगत् का नैरात्म्य अर्थात् आत्मा से भिन्नत्व है वैसे ही आत्मा का नैर्जगत्य अर्थात् जगत् से भिन्नत्व है ॥ १७५ ॥

विशेष—संसार का प्रत्येक पदार्थ अपने से भिन्न अन्य सभी पदार्थों के अभाव रूप है । अतएव जिस प्रकार संसार आत्मा से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा भी संसार से भिन्न है । यही उक्त कथन का अभिप्राय है ।

नैरात्म्य दर्शन

अन्यात्माभावो नैरात्म्यं स्वात्मसत्तात्मकश्च सः ।

स्वात्मदर्शनमेवातः सम्यग्नैरात्म्यदर्शनम् ॥ १७६॥

अर्थ—अन्य आत्माओं का अभाव हो नैरात्म्य कहा जाता है और वह स्वात्मसत्तात्मक अर्थात् अपनी आत्मा की सत्ता रूप है। इसलिए अपनी आत्मा का दर्शन ही सही नैरात्म्यदर्शन है ॥ १७६ ॥

विशेष—एक आत्मा में अन्य आत्माओं के अभाव को नैरात्म्य कहते हैं जो कि अपनी आत्मसत्तारूप है इसलिये स्वयं को आत्मा के दर्शन का ही नाम समीचीन नैरात्म्यदर्शन है ।

द्वैताद्वैत बृष्टि

आत्मानमन्यसंप्रकृतं पश्यन् द्वैतं प्रपश्यति ।

पश्यन् विभक्तमन्येभ्यः पश्यत्यात्मानमद्वयम् ॥ १७७॥

अर्थ—प्राणी आत्मा को अन्य पदार्थ से सम्बन्धित देखता हुआ द्वैत को देखता है परन्तु आत्मा को अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से भिन्न (रहित) देखता हुआ आत्मा को अद्वय देखता है ॥ १७७ ॥

विशेष—तात्पर्य आत्मा को अन्य से सम्बद्ध देखने वाला द्वैत को देखता है और आत्मा को अन्यों से विभक्त देखने वाला अद्वैत को देखता है। इस तरह एक आत्मा का अन्य आत्मा से विभिन्न दिखाई देना इसका नाम नैरात्म्यदर्शन है। अन्य से असम्बद्ध आत्मा को दिखाई देने का नाम अद्वैतदर्शन है। दोनों में यही विशेषता पाई जाती है।

आत्मदर्शन का फल

पश्यन्नात्मानमेकाग्रधात्कपयत्यजितान्मलान् ।

निरस्ताहंसमीभावः संबुद्धोत्पत्यनागतान् ॥ १७८॥

अर्थ—अहंकार एवं ममकार भावों को नष्ट कर चुकने वाला यह आत्मा एकाग्रता से आत्मा को देखता हुआ संग्रहोत पापों को नष्ट कर देता है तथा आनेवाले कर्मों को भी रोक देता है ॥ १७८ ॥

विशेष—योगी जब अहंकार एवं ममकार भावों को नष्ट कर देता है तो बुद्धिपूर्वक उसके पन्नन्वचन-काय अवश्य करने में समर्थ हो जाता।

है। ध्यान के समय वह उपयोग से छुटकारा पाकर निश्चयनय के आश्रय से शुद्धार्था में अपने को बेसे ही लीन कर लेता है जैसे पानी में नमक की डली एकमेक ही जाती है। इस श्वानुभव इन्होंने जाता है और यही श्वानुभव संबरपुर्वक निर्जरा का कारण होता है। देवसेनाचार्य तत्त्वसार में कहते हैं—

मणवयणकायरोहे रुज्जहृ कम्माण आसचो णूणं ।

चिरबद्धं गलह सयं फलरहियं जाइ जोईणं ॥ ३२ ॥

अथति् योगी के मन-बचन-काय रुक जाने पर निष्ठतय से कर्मान्वय रुक जाता है तथा दोर्बकाल में बाधे गये कर्म बिना फल दिये ही स्वयं गल जाते हैं।

यथा यथा समाध्याता लप्स्यते स्वात्मनि स्थितिम् ।

समाधिप्रस्थयाइचास्य रुक्षुटिष्ठन्ति तथा तथा ॥ १७९ ॥

अर्थ—अच्छी तरह ध्यान करने वाला यह आत्मा जैसे-जैसे अपनी आत्मा में स्थिति को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे इसकी समाधि के कारण भी स्पष्ट हो जाते हैं ॥ १७९ ॥

लिङ्गोष—श्री पूर्णपादस्वामी इष्टोपदेश नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

यथा-यथा समायाति संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् ।

तथा-तथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ॥ ३७ ॥

यथा-यथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ।

तथा-तथा समायाति संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

ध्याता जितना-जितना ध्यान में एकाग्रता को प्राप्त होता है उतना-उतना उसे तत्त्व का उत्तम संबेदन प्राप्त होता है और जैसे-जैसे तत्त्वों में प्रीति प्राप्त होती है वैसे-वैसे पंचेन्द्रिय विषय सुलभ होने पर भी रुचिकर नहीं लगते हैं। जैसे-जैसे विषयों की सुलभता से भी रुचि का अभाव होता जाता है वैसे-वैसे श्वानुभव-स्वसंबेदन की प्राप्ति भव्यात्मा को होने लगती है। अतः ध्याता यदि आत्मस्थिति को प्राप्त करना चाहता है तो उसे ध्यान की एकाग्रता को प्राप्त करने का सतत प्रयत्न करना चाहिये।

बर्म्यशुक्लध्यानों में भेदाभेद

एतद् द्वयोरपि ध्येयं ध्यानमोधर्म्यशुक्लयोः ।

दिशुद्विश्वामिभेदात् तथोर्भवोऽवधार्यताम् ॥ १८० ॥

अर्थ—धार्य और शुद्ध दोनों ही ध्यानों में यह आत्मतत्त्व ही ध्यान करने योग्य होता है। विशुद्धि और स्वामी के भेद से उन दोनों में भेद समझना चाहिये ॥ १८० ॥

स्वात्मवर्णनं अहि दुःसाध्य

इदं हि दुःशकं ध्यातुं सूक्ष्मज्ञातावलम्बनात् ।

ओऽप्यनानमपि प्राञ्छेन च द्वागच्छलक्ष्यते ॥ १८१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म ज्ञान का आशय लेने के कारण इस आत्मा का ध्यान करना अत्यन्त दुःसाध्य है। बुद्धिमान् लोगों के द्वारा समझाये जाने पर भी यह शीघ्र दिखलाई नहीं पड़ता है ॥ १८१ ॥

तस्माल्लक्ष्यं च शक्यं च दृष्टादृष्टफलं च यत् ।

स्थूलं वितर्कमालम्ब्य तदभ्यस्यन्तु धीधनाः ॥ १८२ ॥

अर्थ—इसलिये जो जाना जा सकता है, किया जा सकता है और जिसका फल प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि से जाना जा सकता है ऐसे स्थूल विचारों का आलम्बन ले बुद्धिमान् पुरुषों को उसका अभ्यास करना चाहिये ॥ १८२ ॥

आकारं मरुतापूर्यं कुमिभत्वा रेफवक्षिना ।

दम्ध्वा स्ववपुषा कर्मं भस्म विरेत्य च ॥ १८३ ॥

हमंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्तमृतमात्मनि ।

तेनाऽन्यत्तद्विनिमयि पीयुषमयमुज्ज्वलम् ॥ १८४ ॥

तत्तादौ पिण्डितुव्यर्थं निर्भलीकरणाय च ।

भारुतीं तैजसीमाथां(प्यां) विदध्याद्वारणां क्रमात् ॥ १८५ ॥

ततः पंचनमस्कारैः पंचपिण्डाक्षरान्वितैः ।

पंचस्थानेषु विन्यस्तैविधाय सकलां क्रियाम् ॥ १८६ ॥

पद्मावादात्मामहंतं ध्यायेन्निविष्टलक्षणम् ।

सिद्धं वा व्वस्तकमणिममूर्त्तं ज्ञानभास्त्ररम् ॥ १८७ ॥

अर्थ—“अहं” मंत्र का ध्यान करना चाहिये। उसमें से पूरक वायु के द्वारा अकार को पूरित व कुमित करके तथा रेफ में से निकलती हुई अग्नि के द्वारा उपने शरीर के साथ ही साथ कर्मों को जलावे। शरीर व



कर्म के जलने से तैयार हुई भ्रम का विरेचन कर "ह" मंत्र का, जिससे कि अमृत ज्ञान रहा हो, आकाश में ध्यान करना चाहिये। फिर उस अमृत से एक दूसरे अमृतमय उज्ज्वल शरीर का निर्मण करना चाहिये। सो पहिले तो शरीर की रचना के लिये माहौली (गांधीय) धारणा का और बाद में उसको निर्मल करने के लिये तेजसी तथा जलीय धारणा को करने से करे। तदनन्तर पञ्च स्थानों में बनाये गये पाँच पिण्डाकारों से युक्त नमस्कार मंत्र से संकली-करण नाम की क्रिया अथवा समस्त क्रियाओं को करे। इसके बाद, जिनका स्वरूप पहिले लिखा जा चुका है ऐसे अहंत स्वरूप से अपनो आत्मा को ध्यावे अथवा नष्ट कर दिये हैं अष्ट कर्म जिसने ऐसे, अमूर्तिक ज्ञान से प्रकाशमान सिद्ध स्वरूप अपने को ध्यावें।

॥१८३-१८४॥

विशेष—पिण्डस्थ ध्यान में पाँच धारणाएँ होती हैं। १. पार्थिव
२. आग्नेयी ३. माहौली ४. वाहणी ५. तात्त्विकी।

१. पार्थिव धारणा

प्रथम योगी किसी निर्जन स्थान में एक राजू प्रमाण मध्यलोक के समान निश्चब्द निस्तंरग और कपूर अथवा बरफ या द्रुध के समान सफेद और समुद्र का ध्यान करे। उसमें जम्बूद्वीप के बराबर सुवर्णमय हजार पतों वाले कमल का चिन्तन करें। वह कमल पश्चरागमणि के सदृश केशरों के पंक्ति से सुशोभित हो मन रूपी भौंरि को अनुरक्त करने आला हो। फिर उस जम्बूद्वीप में जितने विस्तार बाले सहस्रदल कमल में सुमेरुमय दिव्य कणिका का चिन्तन करें। फिर उस कणिका में शरद काल के चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण का एक ऊँचा सिंहासन चिन्तन करें। उस सिंहासन पर अपने को सुख से बैठा हुआ शान्त जितेन्द्रिय और रागह्रेष से रहित चिन्तन करें।

इस धारणा में एक मध्यलोक के बराबर निर्मल जल का समुद्र चिन्तन करें और उसे भ्रम में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन चौड़ा स्वर्ण रंग के कमल का चिंतन करें। इसकी कणिका का भ्रम में सुमेरु पर्वत का चिन्तन करें। उस सुमेरु पर्वत के ऊपर पाण्डुक बन में पाण्डुक शिला तथा उस शिला पर स्फटिक मणि के आसन एवं आसन पर पश्चासन लगाये ध्यान करते हुए अपना चिन्तन करे।

२. आग्नेयी धारणा

इसके पश्चात् वह ध्यानी पुरुष अपने नाभिमण्डल में सोलह ऊँचे पतों

वाले एक मनोहर कमल का ब्यान करें। फिर उन कमल के सोलह पत्तों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, औ, लू, लू, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन सोलह अक्षरों का ध्यान करें। और उस कमल की कणिका पर “अहं” इस महामन्त्र का चिन्तन करें। इसके पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से निकलती हुई धूम की शिखा का चिन्तवन करे। उसके पश्चात् उस महामन्त्र के रेफ से निकलती हुई ज्वाला की लपटों का चिन्तन करें। फिर कम से बढ़ते उस ज्वाला के समूह से अपने हृदय में स्थित कमल आठ पत्तों का हो, उसका मुख नीचे की ओर हो और उन आठ पत्तों पर आठ कर्म स्थित हों। उस कमल को नाभि में स्थित कमल की कणिका पर विराजमान “हं” से उठती हुई प्रबल अग्नि निरन्तर जला रही है, ऐसा चिन्तन करें। उस कमल के दाध होने के पश्चात् शरीर के बाहर त्रिकोण अग्नि का चिन्तन करें। वह अग्नि बीजाक्षर “र” से व्याप्त हो और अन्त में स्व स्वस्त्रक से चित्तिन हो। इस प्रकार वह धगधग करती हुई लपटों के समूह से देवीप्यमान अग्निमण्डल नाभि में स्थित कमल और शरीर को जलाकर राख कर देता है। फिर कुछ जलाने को न होने से अग्नि मण्डल धीरे-धीरे स्वयं शांत हो जाता है।

३. मारुती धारणा

ध्यानी पुरुष आकाश में विचरण करते हुए सहवेग वाले बलवान वायु मण्डल का चिन्तन करे। फिर यह चिन्तन करे कि उस शरीर वगैरह की भस्म को उस वायुमण्डल का चिन्तन करे। फिर यह चिन्तन करे कि उस शरीर वगैरह की भस्म को उस वायु मण्डल ने उड़ा दिया। फिर (यह चिन्तन) उस वायु को स्थिर रूप चिन्तवन करके शान्त कर दे।

(स्वा० का०)

अथवा

आरनेय धारणा के पश्चात् हृदय में कल्पना करे कि सम्पूर्ण नभ-मण्डल में फैलनेवाली, पृथ्वीमण्डल के सम्पूर्ण हिस्सों में पहुँचनेवाली, जोर की वायु वह रही है तथा हृदय में महान आमन्द का अनुभव करे।

फिर दिचारे या चित्तन करे कि उस जोर के बहने वाले वायु समूह के द्वारा अग्नि में जली हुई उस शरीर को भस्म यहाँ वही उड़ा दी गई है। तदनन्तर उस उठ हुए वायुमण्डल को सदृश्यान द्वारा धीरे-धीरे बारहवें स्थान के अन्त स्थान में स्थापित करे फिर सिद्ध भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। यह मारुती धारणा है [वै.म. ४२-४३]।

मास्ती धारणा

मास्ती धारणा के अनन्तर उस ध्याता को चाहिये कि वह आकृष्ण में गर्जना करते हुए घनधोर बादलों का, खूब गहरे रंग वाले विशाल इन्द्र-घनुष का, बिजली का, जल वर्षा का, जल के प्रवाह के पूर से सूर्य के बह जाने का चिन्तन करे, अर्थात् वह समझे कि जोर से वर्षा हो रही है और जिजली चमक रही है, इनके गोरदार प्रवाह से सूर्य भी बहा जा रहा है घनधोर घटाएँ छाई हुई हैं। इसके बाद बाधाओं से रहित अर्धचन्द्रसम गोल मानो कि श्रेष्ठ चन्द्रमण्डल से वर्षा हो रही हो ऐसा समूर्ण क्रियाओं करें। उस दिव्य ध्यान से उत्पन्न हुए जल से उत्पन्न हुई राख को धोता करें। पश्चात् अपनो मनोहर कान्ति से जिसने दूधों है ऐसा चिन्तन करे। पश्चात् अपनो मनोहर कान्ति से जिसने दूधों से दिशाओं को निर्मल कर दिया, जो दर्शन, ज्ञान, वीर्य व मोक्ष रूप है, जिसमें गोलाई, लम्बाई आदि विकार नहीं पाये जाते हैं जिसका निवास स्थान रूप शरीर अत्यन्त निर्मल है ऐसो सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का हृदय में ध्यान करे।

तत्त्वरूपवती धारणा

पश्चात् ध्यानी पुरुष अपने को सर्वज्ञ के समान सम्पूर्णातु रहित, पूर्णचन्द्रमा के समान प्रभावाला, सिंहासन पर विराजमान, दिव्य अतिशयों से युक्त, कल्याणकों की महिमा सहित, देवों से पूजित और कर्मरूपी कलंक से रहित चिन्तन करे। पश्चात् अपने शरीर में स्थित आत्मा को अष्टकभीं से रहित, अत्यन्त निर्मल पुरुषाकार चिन्तन करे।

एक शंका

नन्दनहृन्तमात्मानमहृन्तं ध्यायतां सताम् ।

अतस्मस्तवृग्गहो भ्रान्तिभंवतां भवतीति चेत् ॥१८८॥

अर्थ—यहाँ शङ्का है कि आत्मा अहृन्त नहीं है। आत्मा को अहृन्त मानकर ध्यान करने वाले आप सज्जनों का ध्यान जो जैसा नहीं है उसमें वैसा प्रहृण करने वाला होने से भ्रान्ति होगा ॥१८८॥

शंका का समाधान

तत्र चोद्यं यतोऽस्माभिर्भावाहन्तयमपितः ।

स चार्द्वध्याननिष्ठात्मा तत्स्तत्रैव तद्ग्रहः ॥१८९॥

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति ।

अहंदृष्ट्यानाविष्टो भावाहृन् स्यात्स्वयं तस्मात् ॥१९०॥

अर्थ—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि हम लोगों ने उसे नयदृष्टि से भाव अहंत माना है और वह ज्याता अहंत के ज्यान में तल्लीन आत्मा वाला है। इसलिये उस (अहंत) में ही उस (आत्मा) का प्रहण होता है। आत्मा जिस भाव से परिणमित होता है, वह उसी भाव से तन्मय हो जाता है। इसलिये अहंत के व्याद में तल्लीन आत्मा स्वयं भाव अहंत हो जाता है ॥१८९-१९०॥

येन भावेन यदूपं ज्यायस्यात्मानमात्मवित् ।

तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

अर्थ—जैसे उपाधि से युक्त स्फटिक मणि तन्मयता को प्राप्त हो जाता है वैसे आत्मा को जानने वाला ज्याता आत्मा का जिस भाव से ज्यान करता है वही उसी रूप (तन्मय) हो जाता है ॥१९१॥

विशेष—भावार्थ यह है कि जैसे स्फटिक मणि के बीचे जिस रंग का पदार्थ रखा रहता है, स्फटिक मणि उसी रंग की मालूम पड़ने लगती है। उसी प्रकार आत्मा को जानने वाला योगी अपनी आत्मा का जिस रूप में ज्यान करता है, वह उसी रूप हो जाती है। योगी जब अपनी आत्मा का ज्यान अहंत भगवान् मान कर करेगा तो उसे अन्य अवस्था में विद्यमान होने पर भी अपनी आत्मा अहंत भगवान् रूप ही प्रतीत होगा। ज्यान का ऐसा ही माहात्म्य है ।

दूसरी तरह से समाधान

अथवा भाविनो भूताः स्वपयज्यास्तदात्मकाः ।

आसते द्रव्यनिकेषं सर्वद्रव्येषु सर्ववा ॥१९२॥

अर्थ—अथवा द्रव्यनिकेष से सब द्रव्यों में भावी और भूतकालिक अपनी पर्यायें सदा तदात्मक ही प्रतीत होती हैं ॥१९२॥

विशेष—भाव यह है कि द्रव्यनिकेष के अनुसार वर्तमानकालीन आत्मामें भविष्यत्कालीन अहंत की पर्याय प्रतिभासित होने लगती है, क्योंकि योगी आत्मा की आगे होने वाली अहंत पर्याय का ज्यान करता है ॥१९२॥

ततोऽयमहृत्यर्थियो भावी द्रव्यात्मना सदा ।

भव्येष्वास्ते सतत्यात्म्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥१९३॥

अर्थ—तब भव्य प्राणियों में यह भविष्यत्कालीन अहंत की पर्याय द्रव्यप्रतिक्रिया से सदा विद्यमान रहतो है, इसलिए सज्जन व्यक्ति की इस आत्मा के ध्यान में आन्ति कैसे हो सकती है ? ॥ १९३ ॥

विशेष—अतः अहंत पर्याय जो कि पर्यायदृष्टि से भावी है, परन्तु द्रव्य दृष्टि से भव्य प्राणी में सदा ही पायी जाती है ऐसा होने से आत्मा को अहंत रूप ध्याने विभ्रम कैसा ? यह तो एक प्रकार से अहंत का ही अहंत रूप से ध्यान करने जैसा है ।

किञ्च भास्त यदीदं स्यात्तदा नातः फलोद्यः ।

न हि मिष्ठाजलाड्जातु विचिन्तिर्जयिते तृषः ॥१९४॥

प्रादुर्भवन्ति चामुषमात्कलानि ध्यानवर्तिनाम् ।

धारणाद्वजातः शान्तकूरङ्गपाप्यनेकधा ॥१९५॥

अर्थ—यदि इस ध्यान को भास्त या भ्रमयुक्त माना जाये तो इस ध्यान से फल की प्राप्ति नहीं होना चाहिये । क्योंकि गूठे (असर्य) पानी से कमो भी प्यास की शान्ति नहीं होती है । जब कि ध्यान करने वाले योगियों को धारणा के अनुसार इस ध्यान से शान्त और कूर रूप वाले अनेक प्रकार के फल प्रकट होते हैं इसलिये आत्मा का अहंत रूप से ध्यान करना भास्ति रूप नहीं है ॥ १९४-१९५ ॥

ध्यान का फल

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः ।

अनन्तशक्तिरात्मायं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति ॥१९६॥

अर्थ—गुरु के उपदेश को पाकर शान्त चित्त से ध्यान करता हुआ अनन्त शक्ति वाला यह आत्मा मुक्ति और भुक्ति को प्राप्ति होता है ॥ १९६ ॥

ध्यातोऽहृस्तिसदूर्घेण चरमाङ्गस्य मुक्तये ।

तदृध्यानोपास्तपुर्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये ॥१९७॥

अर्थ—अहंत और सिद्ध के रूप में ध्याया गया यह आत्मा चरम शरीरों को धारण करने वाले को भुक्ति का कारण होता है और वही ध्यान उस ध्यान से प्राप्त पुण्य वाले अचरमशरीरों को भुक्ति (भोग) का कारण होता है ॥ १९७ ॥

ज्ञानं श्रीरायुरारोग्यं तुष्टिपुष्टिर्वपुष्टिः ।
यत्प्रशस्तमिहान्यक्षमं तत्तदध्यातुः प्रजायते ॥ १९८ ॥

अर्थ—अहंत सिद्ध का ध्यान करने वाले को ज्ञान, सम्पत्ति, आयु, नीरोगता, तुष्टि, पुष्टि, शरीर, धृति तथा जो कुछ भी अन्य इस संसार में प्रशंसनीय वस्तुएँ हैं वह सब प्राप्त हो जाती हैं ॥ १९८ ॥

तव॑ध्यानाविष्टमालोक्य प्रकम्पन्ते महाग्रहाः ।
नश्यन्ति भूतशाकिन्यः क्रूराः शास्यन्ति च क्षणात् ॥ १९९ ॥

अर्थ—अहंत सिद्ध के ध्यान में तल्लीन उस योगी को देखकर महाग्रह भी कम्पायमान होने लगते हैं, भूत एवं शाकिनी नष्ट हो जाते हैं तथा क्रूर स्वभाव वाले भी क्षणभर में शान्त हो जाते हैं ॥ १९९ ॥

यो यस्कर्मप्रभुर्वेदस्तद्व्यानाविष्टमात्मनः ।
अयाता तदात्मको भूत्वा साधयस्यात्मवाचिष्ठतम् ॥ २०० ॥
पाश्वनाथोऽभवन्मन्त्री सफलीकृतविग्रहः ।
महामुद्रां महामन्त्रं महामण्डलमाभितः ॥ २०१ ॥

अर्थ—जो जिस कार्य में समर्थ देवता है, ध्यान करने वाला योगी तदात्मक अर्थात् वेसा ही होकर आत्मा के ध्यान में तल्लीन होकर अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लेता है, महामुद्रा, आसन, महामन्त्र तथा महामण्डल का आश्रय लेने वाला मन्त्री मरुभूति अपने शरीर को सफल करके पाश्वनाथ बन गया था ॥ २००-२०१ ॥

तैजसीप्रभूतीर्विभ्रव् शारणाहच यथोचितम् ।
निघ्रहादीनुवग्नाणां पर्हणां कुरुते द्रुतम् ॥ २०२ ॥

अर्थ—यथायोग्य तैजसी आदि शारणाओं को धारण करता हुआ योगी उद्धरण (क्रूर) प्रहों का क्षीब्र ही नियन्त्रण आदि कर लेता है ॥ २०२ ॥

स्वयमाखण्डलो भूत्वा महामण्डलमध्यगः ।

किंतीर्कुण्डली वज्रो योग्य (भू) जाम्बवाणिकः ॥२०३॥

कुम्भकी स्तम्भमुद्गायास्तम्भम् मन्त्रमुच्चारन् ।

स्तम्भकार्याणि सर्वाणि करोत्येकायमानसः ॥२०४॥

अर्थ—महामण्डल के मध्य में विद्यमान स्वयं इन्द्र रूप होकर तथा किरीट एवं कुण्डली वज्रो योग्य (भू) जाम्बवाणिकः (?) होकर एकाग्र चित्त वाला वह योगी कुम्भक वायु को धारण कर स्तम्भ-मुद्गायादि के द्वारा स्तम्भन मन्त्र का उच्चारण करता हुआ सभी स्तम्भन रूप कार्यों को कर लेता है ॥ २०३-२०४ ॥

स स्वयं गरुडोभूय क्षेत्रं क्षपयति अणात् ।

कन्दर्पेश्वरं स्वयं भूत्वा जगन्नयति वृश्यताम् ॥२०५॥

अर्थ—वह (ध्यान करने वाला योगी) स्वयं गरुड होकर अण भर में विष को नष्ट कर देता है और स्वयं कामदेव होकर संसार को वश में कर लेता है ॥२०५॥

एवं वैद्वानरो भूय उवलज्ज्वालाशताकुलः ।

शीतज्वरं हरस्याशु व्याप्य ज्वालाभिरातुरम् ॥२०६॥

अर्थ—इसी प्रकार जलती हुईं सैकड़ों ज्वालाओं से व्याप्त अग्नि होकर अपनी ज्वालाओं से रोगी व्यक्ति को व्याप्त कर शीघ्र ही शीतज्वर को दूर कर देता है ॥२०६॥

स्वयं सुधामयो भूत्वा वर्णलमृतमातुरे ।

अथैतमात्मसात्कृत्य दाहज्वरमपास्यति ॥२०७॥

अर्थ—स्वयं अमृतमय होकर रोगी व्यक्ति के ऊपर अमृत की वर्षा करता हुआ वह योगी उसे आत्मसात् (अमृतमय) करके दाहज्वर को दूर कर देता है ॥२०७॥

क्षीरोदधिमयो भूत्वा प्लावयन्नखिलं जगत् ।

शान्तिकं पौष्टिकं योगी विद्धाति शरीरिणाम् ॥२०८॥

अर्थ—क्षीरसागर मय होकर सम्पूर्ण संसार की आप्लावित करता हुआ वह योगी शरीरशारियों के शान्ति कर्म एवं पौष्टिक कर्म को करता है ॥२०८॥

किमत्र बहुनोर्केन यद्यत्कर्म क्षिकीर्यति ।

तद्देवताभयो भूत्वा तत्त्वनिर्वर्त्यपत्ययम् ॥२०९॥

अर्थ—इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है ? वह जिस-जिस कर्म को करना चाहता है, उस कर्म के देवता रूप होकर उस-उस कर्म को पूर्ण कर लेता है ॥२०९॥

शान्ते कर्मणि शान्तात्मा क्रूरे क्रूरो भवन्तयम् ।

शान्तक्रूराणि कर्मणि साधयत्येव साधकः ॥२१०॥

अर्थ—शान्त कर्म में शान्त स्वभाव वाला और क्रूर कर्म में क्रूर स्वभाव वाला होता हूँगा यह साधक योगी शान्त और क्रूर कर्मों को सिद्ध कर ही लेता है ॥२१०॥

आकर्षणं वशीकारः स्तम्भनं मोहनं द्रुतिः ।

निविषीकरणं शान्तिविद्वेषोच्चाटनिप्रहाः ॥२११॥

एवमादीनि कार्याणि दृष्ट्यन्ते ध्यानवर्तिनाम् ।

ततः समरसीभावसफलस्वात्म विभ्रमः ॥२१२॥

अर्थ—आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, द्रुति, निविषीकरण, शान्ति, विद्वेष, उच्चाटन, निप्रह आदि इस प्रकार के कार्य ध्यान करने वाले योगियों के देखे जाते हैं, इसलिये समरसीभाव (तादात्म्य) के सफल हो जाने के कारण शान्ति नहीं रहती है ॥२११-२१२॥

यत्पुनः पूरणं कुम्भो रेचनं दहनं पङ्कवः ।

सकलीकरणं मुद्रामन्त्रमण्डलधारणाः ॥२१३॥

कर्माधिष्ठातुदेवानां संस्थानं लिङ्गभासनम् ।

प्रमाणं बाहनं शीर्यं जातिनामिद्युनिविश्वा ॥२१४॥

भुजवक्त्रनेत्रसंलया भावः क्रूरस्तथेतरः ।

बर्णस्पर्शस्वरोऽवस्था दस्त्रं भूषणमायुधम् ॥२१५॥

एवमादि यदन्यच्च शान्तक्रूराय कर्मणे ।

मन्त्रवादाविषु प्रोक्तं तद्व्यानस्य परिष्कृतः ॥२१६॥

अर्थ—पूरण, कुम्भक, रेचन, दहन, पङ्कव, सकलीकरण, मुद्रा, मन्त्र,

मण्डल, धारण, कर्म के अधिष्ठाता देवों के संस्थान, किञ्च (चिङ्ग), आसन, प्रमाण, बाहून, वीर्य, जाति, नाम, द्युति, दिशा, भूजाओं की संस्था, मुखों की संस्था, नेत्रों की संस्था, क्लूरभाव, शान्त भाव, वर्ण, सर्वो, स्वर, अवस्था, वस्त्र, आभूषण, आयुध आदि तथा शान्त और क्रूर कर्म के लिए जो मन्त्र भन्नकारण आदि प्रत्येकों में कहा गया है, वह सब ध्यान का सामग्री-समूह है ॥२१३-२१६॥

पदात्रिकं फलं किञ्चित्प्रकल्पमामुत्रिकं च यत् ।

एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाप्रकारणम् ॥२१७॥

अर्थ—जो कुछ इस लोक का और जो परलोक का फल है, इन दोनों का ध्यान ही प्रधान कारण है ॥२१७॥

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।

गुरुपदेशः श्रद्धानं सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥२१८॥

अर्थ—तथा ध्यान के ये चार मुख्य कारण हैं—गुरु का उपदेश, श्रद्धान, निरन्तर आनन्द और लिङ्ग तन ॥२१८॥

अत्रैष माग्रहं कार्युर्यदध्यानफलमैहिकम् ।

इदं हि ध्यानमाहात्म्यल्यापनाय प्रदर्शितम् ॥२१९॥

अर्थ—जो ध्यान का ऐहिक (इस लोक विषयक) फल है, इसी में आग्रह नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह तो ध्यान की महत्ता को बताने के लिए प्रदर्शित किया गया है ॥२१९॥

यद्व्यानं रीढमात्मं वा पदैहिकफलाधिनाम् ।

तस्मावेतत्परित्यज्य धर्म्यं शुक्लमुपास्यताम् ॥२२०॥

अर्थ—ऐहिक—इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा वालों का जो ध्यान होता है, वह रीढ अथवा आर्तध्यान होता है । इसलिए इनका स्थाग करके धर्म्य और शुक्ल ध्यान की उपासना करना चाहिये ॥२२०॥

विशेष—ध्यान सामान्यतया ४ प्रकार के हैं—“आर्तरीढधर्म्यशुक्लानि” (तत्त्वार्थसूत्र १।२८) आर्त, रीढ, धर्म्य और शुक्ल । इनमें आर्त और रीढ ये दो ध्यान संसार के तथा धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मुक्ति के कारण हैं । विशेष रूप से आर्तध्यान को तिर्यक्षवगति का, रीढ ध्यान

को नरकगति का, धर्म्यध्यान को देवगति का तथा शुक्लध्यान को पोषा का कारण माना गया है। कहा भी गया है—

‘अट्टेण तिरिक्षणगई रुददज्ञाणेण गम्मती नरथ ।

धर्मेण देवलोयं सिद्धिगई सुक्लज्ञाणेण ॥’

(ब्रह्मध्यानशतक, ५ की हरिभ्रस्त्ररिचित वृत्ति)

आर्तध्यान—ऋतं दुःखम्, “अर्दनयतिर्वा, तत्र भवमात्मम्”—रोड़ा पहुँचाना अर्थ है जिसका वह है आर्तध्यान।

रीढ़ध्यान—“रूदः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रीढम्”—रुद का अर्थ है “क्रूर आशय”। अर्थात् क्रूर आशय में हाने वाला ध्यान रीढ़ है।

धर्मदिनपेत धर्म्यम्—जो धर्म से युक्त है वह धर्म्यध्यान है तथा “शुचिगुणयोगाच्छुक्लम्” जिसमें शुचि गुण का योग है वह शुक्लध्यान है। (स० सि० २८।१।८७४)

यह चार प्रकार का ध्यान दो भागों में विभक्त है प्रशस्त और अप्रशस्त। जो पापाश्रव का कारण है वह अप्रशस्त है और जो कर्मोंके निर्द्धन करने की सामर्थ्य से युक्त है वह प्रशस्त है।

तत्त्वज्ञानमुदासीनमपूर्वकरणादिषु ।

शुभाशुभमलापायाद् चिशुद्धं शुक्लमध्यधुः ॥२२१॥

अर्थ—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में तत्त्वज्ञान रूप, उदासीन और शुभ एवं अशुभ मलों के दूर हट जाने से चिशुद्ध शुक्लध्यान को धारण करना चाहिये ॥२२१॥

चिङ्गेव—‘शुचं बलमयतीति शुक्लम्’ इस निष्क्रित के अनुसार जो ध्यान शोकादिक को दूर करने वाला है, वह शुक्लध्यान कहलाता है। आदिपुराण में शुक्लध्यान के दो भेद किये गये हैं—शुक्ल और परम शुक्ल। छद्मस्थों के शुक्ल और केवलियों के परम शुक्ल ध्यान कहा गया है (आदिपुराण २१।१६७)। परमशुक्ल से समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति नामक चतुर्थ शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि अत्यन्त किये गये शुक्लध्यान के चार भेदों में पूर्ववर्त वितर्क सविचारी, एकत्रवितर्क अविचारी एवं सूक्ष्मक्रिया अनिवार्ये तीन परम शुक्ल नहीं कहे जा सकते हैं।

शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कथायरजसः कथादुपशमाद्वा ।

माणिक्यशिखावदिवं सुनिर्मलं निष्प्रकर्म्य च ॥२२२॥

अर्थ—कथाय रूपो रज के क्षय अथवा उपशम हो जाने से तथा विशुद्ध गुण के योग से यह शुद्धध्यान माध्यिक्य की शिखा की तरह अत्यन्त निर्मल और कम्पन से रहित होता है ॥२२२॥

रहनश्चयमुपादाय त्यक्त्वा बन्धनिबन्धनम् ।

ध्यानमभ्यस्यत्तो लिङ्गं यति योगिन्सुसुक्षमे ॥२२३॥

अर्थ—हे योगिन ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो रत्नवय को ग्रहण करके बन्ध के कारण को त्वाग कर हमेशा ध्यान का अभ्यास करो ॥२२३॥

ध्यानमभ्यासप्रकर्षेण तुद्धन्मोहस्य योगिनः ।

चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्थात्तदा अन्यस्य च क्रमात् ॥२२४॥

अर्थ—तब ध्यान के अभ्यास के उत्कर्ष से मोहनीय कर्मका नाश करने वाले चरमशरीरी योगी को मुक्ति हो जाती है तथा अन्य (अचरम-शरीरी) की अनुक्रम से मुक्ति होती है ॥२२४॥

तथा हृचरमाङ्गस्य ध्यानमभ्यस्यतः सदा ।

निर्जरा संवरइच स्यात्सकलाशुभकर्मणम् ॥२२५॥

अर्थ—ध्यान का सदा अभ्यास करने वाले अचरम शरीरी योगो को समस्त अंगुभ कर्मों की निर्जरा और संवर होता है ॥ २२५ ॥

आत्मवन्ति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणम् ।

येर्भुद्दिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२२६॥

अर्थ—और (उस अचरमशरीरी योगी के) प्रतिक्षण प्रचुर पुण्य कर्मों का आत्मव होता रहता है, जिनके द्वारा वह कल्पवासी देवताओं में महान् ऋद्धिसम्पन्न देव हो जाता है ॥ २२६ ॥

तत्र सर्वेन्द्रियामोदि मनसः प्रीणनं परम् ।

सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितम् ॥२२७॥

अर्थ—वही सम्पूर्ण इन्द्रियों की आनन्दित करने वाले और मन को अत्यन्त प्रसन्न करने वाले सुखरूपी अमृत का पान करता हुआ वह देवताओं द्वारा सेवित होकर चिरकाल तक रहता है ॥ २२७ ॥

ततोऽवतीर्यं मत्येऽपि चक्रवर्त्यादिसम्पदः ।
 विरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षा देगम्बरीं जितः ॥२२८॥
 वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुष्विधम् ।
 विधूयाष्टापि कमणि अयते मोक्षमध्यम् ॥२२९॥

जीव—वहाँ (स्वर्ग) से मत्यलोक में भी अवतीर्ण होकर चक्रवर्ती आदि की सम्पत्तियों को चिरकाल तक भोग कर और फिर स्वयं त्याग कर दिगम्बर दीक्षा का आश्रय लेनेवाला वज्रवृषभनाराचसंहननधारी वह योगी चार प्रकार के शुक्लध्यान का व्याप्त करके आठों कर्मों को नष्ट कर अविनाशी मोक्ष का आश्रय लेता है ॥ २२८-२२९ ॥

आत्यन्तिकः स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणः ।

स मोक्षः फलमेतस्य ज्ञानाद्याः क्षायिकाः गुणाः ॥२३०॥

अर्थ—जीव और कर्म का अपने हो कारण से जो अत्यन्त अलगाव है, वह मोक्ष कहलाता है । ज्ञान आदि क्षायिक मूणों का प्रकटीकरण इस (मोक्ष) का फल है ॥२३०॥

विशेष—मुच्छातु से मोक्ष शब्द की सिद्धि हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है छूटना । श्री समन्तभद्र स्वामी के अनुसार—

जन्मजरामयमरणः शोकेदुःखेर्भयैश्च परिमुक्तम् ।

निवणि शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्ठते नित्यम् ॥ १३ ॥

—रत्नकरणहक्षानकाचार

अविनाशी, जन्म-जरा-बुद्धापा, रोगशोक, मृत्यु, दुःख व सातभ्यों से रहित अक्षय अतीन्द्रिय सुखवाली परमकल्याणकारी अवस्था मोक्ष है ।

'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् कृतस्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' ॥

—तत्त्वार्थसूत्र २/१०

बन्ध हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यधिक क्षय होना मोक्ष है ।

जब आरमा कर्ममलकलंक (राग-द्वेष-भोह) और शरीर को अपने से सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाष सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं ।

—(स० ति० १/१)

मोक्ष के भेद हैं—सामान्य की अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकार है। द्रव्य-भाव और भोक्तव्य की दृष्टि से अनेक प्रकार का है। (रा० वा० १)

वह मोक्ष तीन प्रकार का है—जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष और जीव पुद्गलमोक्ष। (वा० १३)

क्षायिकज्ञान, दर्शन व यथारूपातचारित्र नामवा ले (शुद्धरत्नश्चात्मक) जिन परिणामों से निरबशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं उन परिणामों को मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है। (द्रव्यसंग्रह)

मुक्तात्माओं की लोकाय में स्थिति

कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वंयज्ञात्मवभावतः ।

क्षणेनेकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाप्रभूच्छति ॥२३१॥

अर्थ—कर्मों के बन्धन का विध्वंस हो जाने से और ऊर्ध्वर्गमन स्वभाव होने के कारण मुक्त जीव एक ही क्षण में संसार के चूडाय भाग तक चला जाता है ॥ २३१ ॥

विज्ञेय—समस्त कर्मों का क्षय होते ही तुरन्त उसी समय मुक्त जीव ऊपर की ओर लोक के अन्त तक जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्ताद् ।’ १०/५, सर्वार्थसिद्धि विमान से १२ योजन ऊपर ८ योजन मोटी १ राजू पूर्व पश्चिम और ७ राजू उत्तर दक्षिण की ओर हैवतप्रायभार नामक अष्टम पृथिवी के ऊपरी भाग में धीधोंदीच मनुष्य लोक प्रमाण ४५ योजन समतल अङ्ग गोलाकार सिद्धशिला है। वहाँ सिद्ध विराजमान रहते हैं। मुक्त जीवों के ऊर्ध्वर्गमन में घार कारण माने गये हैं—१. पूर्व प्रयोग अर्थात् मोक्ष के लिए किया गया पुक्षधार्य, २. संग रहित हो जाना, ३. बन्ध का नाश हो जाना और ४. ऊर्ध्वर्गमन स्वभाव होना। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘पूर्वप्रयोगाद-संगत्वाद्बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।’ १०/६. जीव का यथापि ऊर्ध्वर्गमन स्वभाव है किन्तु मुक्तजीव लोकाय या जगच्चूडाय में ही ठहर जाते हैं, क्योंकि जीव और पुद्गलों का गमन धर्म द्रव्य की सहायता से होता है और धर्मद्रव्य लोकाकाश तक ही पाया जाता है। आगे अलोकाकाश में धर्मद्रव्य का अभाव है।

मुक्त जीव के ऊर्ध्वर्गमन करने में ऊर्ध्वर्गमन स्वभाव रूप स्वयं का

सामर्थ्ये तो उपादान कारण है और धर्मद्रव्य निर्मित कारण है। जहाँ तक मुक्त जीवों को ऊर्ध्वमन करने में वह दोनों प्रकार की कारण सामग्री प्राप्त होती है, वहीं तक ऊपर जाना सम्भव है। धर्मद्रव्य लोक के अन्त तक हो पाया जाता है। अतः ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने पर भी जीव उसके आगे गमन नहीं कर सकता है।

मुक्त होने पर संकोच विस्तार नहीं
पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ न स्तः कथात्तदेतुकर्मणाम् ॥२३२॥

अर्थ—संसार में जीव का कर्मों के उदय से संकोच और विस्तार होता है। मोक्ष में जीव के उस (संकोच-विस्तार) के कारणों का नाश हो जाने से वे दोनों (संकोच और विस्तार) नहीं होते हैं ॥ २३२ ॥

विशेष—जैनदर्शन की मान्यता है कि जीव का आकार शरीर के आकार होता है। मुक्त जीवों का शरीर नहीं रहता है तो फिर उनका जीवात्मा लोकाकाश में फैल जाना चाहिये क्योंकि उसका स्वाभाविक परिणाम तो लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर बतलाया गया है? इस आशंका का समाधान ही इस कारिका द्वारा किया गया है। आत्मा के प्रदेशों में संकोच-विस्तार नामकर्म के कारण होता था। क्योंकि नामकर्म के कारण जैसा शरीर मिलता था, उसी के अनुसार आत्मप्रदेशों में संकोच और विस्तार होता था। मुक्त होने पर नामकर्म का अभाव हो जाने के कारण संकोच और विस्तार का अभाव हो जाता है।

बूहदद्रव्यसंग्रह के टीकाकार श्री ब्रह्मदेव ने मुक्तात्मा के संकोच-विस्तार न होने में अनेक उदाहरण गाथा १/१४ की वृत्ति में दिये हैं। वे लिखते हैं कि जैसे किसी मनुष्य की मुट्ठी के भीतर नार हाथ लम्बा भिंचा हुआ वस्त्र है। मुट्ठी खोल देने पर भी पुरुष के अलग हो जाने पर भी वह वस्त्र संकोच विस्तार नहीं करता है, अपितु पुरुष ने जैसा छोड़ा था, वैसा ही रहता है। अथवा गोली मिट्टी का बत्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तार को प्राप्त होता है, किन्तु जब वह सूख जाता है तब जल का अभाव होने से संकोच-विस्तार को प्राप्त नहीं होता है। इसी प्रकार मुक्त जीव भी पुरुष के स्थानभूत अथवा जल के स्थानभूत शरीर के अभाव में संकोच-विस्तार नहीं करता है।

मुक्त जीवों का अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार
 ततः सोऽनन्तरत्यक्तस्थशरीर प्रमाणतः ।
 किञ्चिद्बूनस्तदाकारस्तद्रास्ते स्वगुणात्मकः ॥२३३॥

अर्थ—इसलिये वह (मुक्त जीव) वहाँ अपने तुरन्त त्यागे गये शरीर के प्रमाण से कुछ कम, तदाकार तथा आत्मा के गुणों से परिपूर्ण रहता है ॥२३३॥

विज्ञेय—तिलोयपण्णती ७/१० में आचार्य यतिवृषभ ने कहा है कि अन्तिम भव में जिसका जैसा आकार, दीर्घता एवं वाहूल्य होता है, उसके तृतीय भाग चिह्नोन सब सिद्धों की अवगाहना होती है । यहो बात सिद्धान्त-सारदीपक १६/८ में भी कही गई है । सिद्धों के आत्मप्रदेशों का फैलाव प्रत्युत्पन्न नय की अपेक्षा अपनी-अपनी अन्तिम शरीर अवगाहना से कुछ कम होता है । भूत दृष्टि से उसे शरीर प्रमाण तदाकार माना गया है ।

सभी सिद्ध सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुहलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों से पूर्ण होते हैं । श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव ने कहा है—

‘णिकम्भा अटुगुणा किचूणा चरपदेहदो सिद्धा ।
 लोयगाठिदा णिच्चा उप्यादवर्णहि संजृता ॥’

—बृहदद्रष्टव्यसंग्रह, १/१४

अर्थात् सिद्ध भगवान् ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार बाले हैं । लोकाश में स्थित, नित्य एवं उत्पाद-व्यय से संयुक्त हैं ।

मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं
 स्वरूपावस्थितिः पुंसरूपदा प्रक्षीणकर्मणः ।
 नाभावो नाप्यचेतन्यं न चेतन्यमनर्थेकम् ॥२३४॥

अर्थ—तब विनष्ट हो चुके कर्मों बाले पुरुष की स्वरूप या स्वाभाविक अवस्था होती है । न तो अभाव होता है और न ही अचेतनपना । चेतन्य अनर्थक (ध्यर्थ) नहीं होता है ॥२३४॥

विज्ञेय—भारतीय दर्शनों में आत्मा की मुक्तावस्था के सम्बन्ध को लेकर विभिन्न विवाद हैं यथा—किसी का कहना है मुक्ति में आत्मा का उत्त्वेद-नाश हो जाता है, कुद्धि आदि गुणों का नाश होना मुक्ति है ।

बीदों की मान्यता है कि जिस प्रकार तैल के क्षय हो जाने से हीपक वहीं समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार क्लेश का क्षय हो जाने से आत्मा वहीं समाप्त हो जाता है। दैशेषिक व योगों की मान्यता है कि बुद्धि सुख, इच्छा आदि विशिष्ट गुणों का नाश हो जाना सिद्धि है पर उनकी यह मान्यता भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने वालों के यहाँ तपश्चरणादि की योजना नहीं बनती है। कोई भी अपने आपका सर्वथा नाश करने और अपने असाधारण गुणों को नष्ट करने के लिये तपश्चरण की योजना नहीं करता। चाहकि आत्मा को पृथिवी आदि चतुष्टय से उत्पन्न हुआ मानता है उस दर्शन में आत्मा ही नहीं है तब मुक्त दशा कैसे हो सकती है? अतः आत्मा का अस्तित्व बताने के लिये कहा गया है कि आत्मा है वह अनादि से बढ़ है, कर्म सहित है, अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल भोगने वाला है, स्वकृत कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष को प्राप्त करता है। मुक्तात्मा—

अदृश्यिह कम्म वियला, सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।

अदृश्युणा किदकिच्चा, लोयगणिवसिणो सिद्धा ॥

—जीवकाण्ड

मुक्त जीव अष्ट कर्मों से रहित, शान्तरूप, निरञ्जन, शाश्वत आठ गुणों युक्त, कुत्सकृत्य और लोकाय में निवास करता है।

मुक्तावस्था में जीव का अभाव नहीं है जैसा कि कहा है—

नाभावः सिद्धिरिष्टा न तिजगुणहिस्तत्तपोमिन्युक्ते-

रस्त्यात्मानादिष्ट स्वकृतजफलभुक् तत्त्वान्मोक्षभागी ।

जाता दृष्टा स्वदेह प्रतिमतिरूपसमाहार विस्तार धर्मी,

ध्रीव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत-इतो नान्यथा साध्यसिद्धि ॥ २ ॥

—सिद्ध भ०

जीव का स्वभाव स्वपर प्रकाशक

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनम् ।

भानुमण्डलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनम् ॥२३५॥

बर्थ— सम्पूर्ण जीवों का स्वरूप, सूर्य मण्डल की तरह स्व और पर को प्रकाशन करने (जानने) का है। उनका प्रकाशन दूसरों से नहीं होता है ॥२३५॥

मुक्तात्मा स्वस्वभाव में स्थित
तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।

यथा मणिः स्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके बले ॥२३६॥

अर्थ—जिस प्रकार संमर्गजन्य मैल के नष्ट हो जाने पर मणि अपने हेतुओं से स्थित रहता है उसी प्रकार कर्मों के नष्ट हो जाने पर जीव या आत्मा स्वभाव से ही स्थित रहता है ॥२३६॥

विशेष—जिस प्रकार सुवर्णपाषाण में स्वर्णपर्याय प्राप्त करने की व्योग्यता है परन्तु किन्तु कालिमादि बाह्य पदार्थों का आवरण होने से वह स्वर्ण पर्याय प्रकट नहीं हो पाती; जब अग्निसंतापन आदि बाह्य कारणों की योजना से बाह्य पदार्थों को दूर कर दिया जाता है तब स्वर्ण पर्याय प्रकट हो जाती है । इसी प्रकार इसेवा एवं प्राप्ति में सिद्धि-मुक्ति प्राप्त करने की व्योग्यता है परन्तु ज्ञानावरणादि पीढ़गलिक कर्मों और उनके निमित्त से होने वाले विकारी दोषों के रहते हुए सिद्धि मुक्ति पर्याय प्रकट नहीं हो पाती; जब तपश्चरणादि कारणों की योजना से वे कर्म और उनसे उत्पन्न होने वाले विकारी भाव नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा में मुक्ति पर्याय प्रकट हो जाती है । जिन जीवों ने ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों का क्षय कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, वे सिद्धि कहलाते हैं ।

न मुहूर्ति न संप्रोते न स्वार्थनिष्ठ्यवस्थति ।

न रज्यते न च कुण्डि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणम् ॥२३७॥

अर्थ—(वह मुक्त आत्मा) न मोहित होता है, न सोता है, न स्वार्थों की ओर जाता है, न राग करता है और न द्वेष करता है अपितु प्रतिक्षण अपने में स्थित रहता है ॥२३७॥

त्रिकाल त्रिलोक के ज्ञाता होकर भी उदासीन

त्रिकालचिष्यं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितम् ।

जानन् पद्यं च निःज्ञेयमुदास्ते स सदा प्रभुः ॥२३८॥

अर्थ—तब वह समर्थ आत्मा तीनों काल के ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थों को और अपने को अपने-अपने स्वरूप में स्थित जानता और देखता हुआ पूर्णरूप से उदासीन रहता है ॥ २३८ ॥

विशेष—‘सकल ज्ञेयशायक सदपि निजानन्द रसलीन’

जीवादि द्रव्यों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें वर्तमान पर्यायों की तरह अथवा हस्तामलकवत् जानते हुए भी त्रिकालदर्शी अर्हंतदेव स्व-स्वरूप में लीन रहते हैं : जैसा कि कहा है—

स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसंगः।

प्रबुद्धकालोऽप्यजरो वरेष्यः पादाय पायात्पुरुषः पुराण ॥ १ ॥

प्रश्न उठता है कि जो आत्मस्वरूप में स्थित होगा वह सर्वव्यापक कैसे ? समाधान यह है कि पुराणपुरुष आत्मप्रदेशों की अपेक्षा अपने स्वरूप में ही स्थित हैं, पर उनका ज्ञान सब लोकालोक के पदार्थों को जानता है, अतः वे सर्वगत हैं ।

**सिद्धों को अनन्तसुख
अनन्तज्ञानवृग्वीर्यवैतृष्ण्यभयमध्ययम् ।**

सुखं चानुमेवरथेष तत्रातीनिद्रियमध्ययुतः ॥२३९॥

अर्थ—यही यह अविनाशी मुक्तात्मा अतीनिद्रिय, अनन्तज्ञान-अनन्त-दर्शन-अनन्तवीर्यमय, तृष्णाहीन और अविनाशी सुख का अनुभव करता है ॥ २३९ ॥

विशेष—सिद्धों का सुख—चक्रवर्तियों के सुख से भोगभूमियों जीवों का सुख अनन्तगुणा अधिक होता है । इनसे धरणेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है, इनसे देवेन्द्र का सुख अनन्तगुणा है उस देवेन्द्र से भी अहमिन्द्र का सुख अनन्तगुणा है । इन सभी के अनन्तानन्त गुणित अतीतकाल, अविष्वल्काल वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी सुखों को मो एकत्रित कर लीजिये और सबको मिला दोजिये । तीन लोक से भी अधिक ढेर के समान इन-सम्पूर्ण सुखों की अपेक्षा भी अनन्तमन्त गुणा अधिक सुख सिद्ध भगवान् को एक क्षण में उस मुक्तिकान्ता के समागम से प्राप्त होता है ।

ई सिद्धसुख विषय एक शंखा

ननु चाक्षेस्तदथर्थनिमनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।

अतीनिद्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखम् ॥२४०॥

अर्थ—यही धंका होती है कि (संसार में) इन्द्रियों के द्वारा उनके विषयों का अनुभव करने वाले को सुख हो सकता है । अतीनिद्रिय मुक्त जीवों में मोक्ष में वह सुख कैसे हो सकता है ? ॥ २४० ॥

समाप्तान

इति चेन्मन्यसे मोहासन्म श्रेयो मर्तं यतः ।

नाशापि वर्त्स त्वं वेत्स स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥

अर्थ—मोहनीय कर्म के उदय से यदि तुम ऐसा मानते हो तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि है वर्त्स ! अब भी तुम सुख एवं दुःख का स्वरूप नहीं जानते हो ॥२४१॥

आत्मायत्तं निराकाशमतीन्द्रियमनश्वरम् ।

घातिकर्मक्षयोदभूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदुः ॥२४२॥

अर्थ—जो आत्मा के आधीन है, बाधाओं से रहित है, अतोन्द्रिय है, कभी नष्ट न होने वाला है तथा चार घाति कर्मों के नाश से उत्तम्न हुआ है, उसे मोक्षसुख कहते हैं ॥२४२॥

विशेष—हन्द्रियजनित सुख प्रथम तो सातावेदनीय आदि पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होता है, अतः स्वाधीन नहीं है । दूसरे, पुण्य कर्मों के उदय से प्राप्त होने पर भी तभी तक रहता है, जब तक पुण्य का उदय है । बाद में वह नियम से नष्ट हो जाता है तथा उसकी उत्पत्ति दुःखों में पर्यावरित है । अतः ऐसा सुख अश्रेय है । रत्नकरण्डश्रावकाचार में कहा भी गया है—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखेरत्तरितोदये ।

पापबोजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा समृता ॥ १२ ॥

अतः जहाँ पर दुःख का लेश भी न हो, उसे ही यथार्थ सुख समझना चाहिये । ऐसा सुख प्राणी को कर्मबन्धन से रहित हो जाने पर मोक्ष में ही प्राप्त हो सकता है । क्योंकि मोक्षसुख स्वाधीन, निबधि, अतीन्द्रिय एवं अविनाशी होने से हन्द्रिय सुख की तरह दुःखों से विच्छित नहीं है ।

* स धर्मो यत्र नाधर्मस्तसुखं यत्रनासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गति यत्र नागति ॥४६॥ बा० शा०

धर्म वह है जिसके होने पर अधर्म, ज्ञान वह है जिसके होने पर अज्ञान न रहे, गति वह है जिसके होने पर आगमन न हो तथा सुख वह है जिसके होने पर दुःख न हो ।

यत्तु सांसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतम् ।

स्वपरद्वच्यसंभूतं तृष्णासन्तापकारणम् ॥२४३॥

★ मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबन्धनम् ।

दुःखकारणबन्धस्य हेतुस्वाददुःखमेव तत् ॥२४४॥

अर्थ—और सांसारिक सुख रागात्मक है, विनाशीक है, आत्मा एवं परद्वच्यों से उत्पन्न होने वाला है, तृष्णा एवं सन्ताप का कारण है, मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया एवं लोभ का कारण है, वह दुःख के कारणभूत बन्ध का हेतु होने से वास्तव में दुःख ही है ॥२४३-२४४॥

विशेष—सभी प्राणी सुखाभिलाषो हैं, कोई भी दुःख को नहीं चाहता है । अज्ञानी प्राणी जिसे सुख समझता है, वह सुख नहीं है सुखाभास है । उस सुख के अनन्तर पुनः अनिवार्य रूप से दुःख होता है । क्योंकि पुण्य कर्म के क्षेत्र हो जाने पर दुःख के हेतुभूत पाप का उदय अवश्यंभावी है । इसके अतिरिक्त वह आसक्ति और तृष्णा का बढ़ाने वाला होने से पापास्तव का कारण भी है । कहा रखा दुःख ने पर्याप्त दाले सुख की वास्तव में दुःख ही समझता चाहिये । यही इन दोनों श्लोकों का भावार्थ है ।

तमोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यस्तुखम् ।

यस्तटोलमपि स्थादु इलेष्मणस्तद् विजूम्भितम् ॥२४५॥

अर्थ—विषय भोगों से भी जो सुख मिलता है, वह मोहनीय कर्म का ही माहात्म्य है । जो पटोल (कड़वा करेला) भी स्वादिष्ट लगता है वह इलेष्मा का ही प्रभाव है ॥२४५॥

ग्रन्थं चक्रिणां सौख्यं यज्ञव स्वर्गे दिवौकसाम् ।

कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनाम् ॥२४६॥

अर्थ—इस जगत् में चक्रवतियों का जो सुख है और स्वर्ग में देवताओं का जो सुख है, वह परमात्माओं के सुख की एक कला के समान भी नहीं है ॥ २४६ ॥

मोक्ष ही उत्तम पुरुषार्थं

अतएवोत्तमो मोक्षः पुरुषार्थेषु पठ्यते ।

स च स्याद्वादिनामेव नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥२४७॥

अर्थ—इसीलिए पुरुषार्थों में मोक्ष उत्तम पुरुषार्थ कहा जाता है और वह स्याद्वादियों (जैन दार्शनिकों) के ही हैं, आत्मा से विद्वेष करने वाले अन्य लोगों के नहीं हैं ॥ २४७ ॥

एकान्तवादियों के बन्ध और मोक्ष नहीं

यद्वा बन्धश्च मोक्षश्च लहौत् च चतुष्टयम् ।

नास्त्येवैकान्तरशतानां सदृश्यापकमनिच्छताम् ॥ २४८ ॥

अर्थ—अथवा बन्ध और मोक्ष तथा उनके कारण ये चार एकान्तवाद में आसक्त एवं उनको व्यापक नहीं मानने वाले लोगों के नहीं हैं ॥ २४८ ॥

विशेष—एकान्तवादियों ने सर्वथा शब्द का प्रयोग कर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था का ही लोप कर दिया है यह बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था वीतरागी जिनशासन के अलावा अन्यों में देखने को नहीं मिलती । इसका स्पष्टीकरण करते हुए श्री समत्भद्राचार्य ने स्वयंभूस्तोत्र पन्थ में लिखा है कि—

बन्धश्च मोक्षश्च तपोश्च हेतु, बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।

स्याद्वादिनो नाथ तवेव युक्तं, नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥ ४ ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र स्तवन

हे संभव जिन ! बन्ध, मोक्ष तथा बन्ध मोक्ष के हेतु और बद्ध आत्मा, मुक्त आत्मा और मुक्ति का फल यह सब अनेकान्तमत से निरूपण करने वाले आपके ही मत में ठीक होता है । एकान्तदृष्टि रखनेवाले बौद्ध आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानते हैं इसलिए उनके यहीं बन्ध किसी का होता है, तो मोक्ष किसी दूसरे का होता है । सांख्य मत वाले आत्मा का सर्वथा नित्य मानते हैं अतः उनके मतानुसार जो आत्मा बद्ध है वह बद्ध ही है और जो मुक्त है वह मुक्त ही है अतः एकान्तवादियों के यहीं बन्ध मोक्ष की व्यवस्था ठीक नहीं बैठती है । इसलिये है स्वामिन् ! सच्चे उपदेष्टा आप ही हैं ।

अनेकान्तात्मकत्वेन व्याप्तावत्र क्रमाक्रमो ।

ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता तयास्तित्वं चतुष्टये ॥ २४९ ॥

अर्थ—बात यह है कि अनेकान्तात्मकत्व के साथ क्रम और अक्रम (योगपद्म) व्याप्त है, क्रम अक्रम से अर्थक्रिया व्याप्त है और अर्थ क्रिया से अस्तित्व व्याप्त है । अर्थात् अस्तित्व (सत्ता) वहीं रह सकता है जहाँ

अर्थ किया हो, अर्थ किया वहीं बन सकती है जहाँ क्रम और अक्रम (योगपद्म) हों और क्रम अक्रम वहीं बन सकते हैं जहाँ अनेकान्तामकत्व हो ॥ २४९ ॥

**मूलव्याप्तुनिवृत्तौ तु क्रमाक्रम निवृत्तिः ।
क्रियाकारकयोच्चेशान्न स्यादेतच्छतुष्टयम् ॥२५०॥**

अर्थ—लेकिन सर्वथा एकान्तवादियों के यहीं जब मूल, व्यापक रूप अनेकान्तामकत्व ही नहीं माना गया तब क्रम और अक्रम की भी निवृत्ति हो जायगी । क्रम और अक्रम की निवृत्ति हो जाने से क्रिया व कारक भी नहीं बन सकेंगे और उनके न बनने से इन (बन्ध, बन्ध के कारण, मोक्ष, मोक्ष के कारण) चारों की व्यवस्था नहीं बन सकती है ॥ २५० ॥

**ततो व्याप्त्या समस्तस्य प्रसिद्धिच्च प्रमाणतः ।
चतुष्टयसदिक्षुद्विभरनेकान्तोऽवगम्यताम् ॥२५१॥**

अर्थ—इसलिये इन चारों की सत्ता मानने वाले लोगों को सर्वत्र व्याप्त होने के कारण और प्रमाण से सिद्ध अनेकान्त समझना चाहिये ॥ २५१ ॥

**सारचतुष्टयेऽप्यस्मिन्मोक्षः सद्व्यानपूर्वकः ।
इति भूखा भया किञ्चिद्व ध्यानमेव प्रपञ्चितम् ॥२५२॥**

अर्थ—इन चार में भी सच्चे ध्यानपूर्वक होने वाला मोक्ष सारभूत है । ऐसा बानकर मैंने कुछ ध्यान का ही विस्तार किया है ॥ २५२ ॥

ग्रन्थकार की लघुता

**यद्यप्यव्यन्तगम्भीरमभूमिर्वृशामिदम् ।
प्रावर्तिषि तथाप्यत्र ध्यानभवितप्रचोदितः ॥२५३॥**

अर्थ—यद्यपि ध्यान अत्यन्त गम्भीर है और यह हम जैसों के वर्णनीय नहीं है तथापि ध्यान की भवित से प्रेरित मैंने इसमें प्रवृत्ति की है ॥ २५३ ॥

ग्रन्थकार की अमा याचना

**यदत्र स्खलित किञ्चिच्छाद् मस्त्यादर्थेशब्दयोः ।
तन्मे भवितप्रधानस्य कामताम् श्रुतदेवता ॥२५४॥**

अर्थ—छद्मस्य (अल्पज्ञानी) होने के कारण इसमें जो कुछ शब्द

और अर्थ की श्रुटि हुई हो, भवित हो है प्रधान जिसे ऐसे मेरो उस श्रुटि को श्रुतदेवता क्षमा करें ॥ २५४ ॥

प्रत्यकार की नागलकामना

वस्तुयाथात्म्यविज्ञानश्रद्धानश्यानसम्पदः ।

भवन्तु भव्यसत्त्वानां स्वस्वरूपोपलब्धये ॥ २५५ ॥

अर्थ—भव्य प्राणियों को अपने आत्म स्वरूप की प्राप्ति के लिए वस्तु का यथार्थ ज्ञान, यथार्थ श्रद्धान् एवं ध्यान रूपी सम्पत्तियाँ प्राप्त होवें ॥ २५५ ॥



प्रशस्ति

**श्री शैरचन्द्रशुभदेवमहेन्द्रदेवाः
शास्त्राय अस्य गुरवो विजयामराइच ।**

**दीक्षागुरुः पुनरजायत पुण्यमूर्तिः
श्रीनागसेनमुनिरुद्धरित्रकीर्तिः ॥ २५६॥**

अर्थ—श्री शैरचन्द्र, शुभदेव और महेन्द्रदेव जिसके शास्त्रगुरु अर्थात् विद्यागुरु थे तथा पुण्यमूर्ति श्री विजयदेव दीक्षागुरु हुए ऐसे फैली हुई चारित्र की कीर्ति वाले श्री नागसेन मुनि हुए ॥ २५६ ॥

**तेन प्रवृद्धधिषणेन गुरुपवेश-
मासाद्य सिद्धिसुखसम्पदुपायभूतम् ।
तत्त्वानुशासनमिदं जगतो हिताय
श्रीनागसेनदिदुषा व्यरच्छ स्फुटार्थम् ॥ २५७॥**

अर्थ—अत्यन्त बढ़ी हुई बुद्धि वाले उस विद्वान् नागसेन मुनि ने गुरु के उपदेश को पाकर, संसार के हित के लिए सिद्धि एवं सुखसम्पत्ति के साधनभूत इस स्पष्ट अर्थ वाले “तत्त्वानुशासन” नामक ग्रन्थ की रचना की ॥ २५७ ॥

**जिनेन्द्राः सद्ध्यानज्ज्वलनहुतघातिप्रकृतयः,
प्रसिद्धाः सिद्धाइच प्रहृततमसः सिद्धिनिलयाः ।
सदाचार्याः वर्याः सकलसदुपाध्यायमुनयः
पुनन्तु स्वान्तं नस्त्रिजगदधिकाः पञ्च गुरवः ॥ २५८॥**

अर्थ—जिन्होंने सभीनीन ध्यान रूपो अग्नि में चार घातिया कर्म प्रकृतियों को होम दिया है ऐसे श्री जिनेन्द्र अहंत देव, नष्ट कर दिया है अज्ञानान्धकार, जिन्होंने तथा सिद्ध शिला में विराजमान जो प्रसिद्ध सिद्ध परमेष्ठी, श्रेष्ठ, आचार्यवृन्द, समस्त प्रशस्त उपाध्याय गण व साधु समुदाय रूप जो त्रिलोकातिशायी पंचपरमेष्ठी हैं, वे हम लोगों के अन्तःकरण को पवित्र करें ॥ २५८ ॥

देहज्योतिषि यस्य मुजामि जगत् दुर्धान्धुराक्षाचिव

ज्ञानज्योतिषि च स्फुटत्यतितरामो भूभूवः स्वस्त्रयो ।

शब्दज्योतिषि यस्य दर्पण इव स्वार्थादिचकासन्तयमी

स श्रीमान्मराच्चितो जिनपतिउर्योतिस्त्रयायास्तु नः ॥२५९॥

इति श्रीमन्नागसेनमुनिविरचितः तत्त्वानुशासनसिद्धान्तः समाप्तः

बधं—क्षीरोदधि के समान जिनको शरीर-कान्ति में सारा संसार हूँवा हुआ है, जिनकी ज्ञान ज्योति में भू, भव, और स्व की ऋयी (तिकड़ी) अत्यंत स्पष्ट रोति से प्रकाशमान हो रही है, दर्पण के समान जिनकी शब्द ज्योति (दिव्यध्वनि) में सम्पूर्ण चराचर पदार्थ झलक रहे हैं, जो अन्तरंग (अनन्तचतुष्टयादि) एवं बहिरंग (समवसरणादि) लक्षणी कर युक्त हैं तथा जो देवों द्वारा वन्दनीय हैं ऐसे जिनेन्द्र भगवान् हम लोगों को ज्योतिश्चर्य—देहज्योति, ज्ञानज्योति च शब्द ज्योति के प्रदान करने वाले होते ।

इस प्रकार श्रीमान् नागसेन मुनि ह्राश विरचित तत्त्वानुशासन
नामक सिद्धान्तप्रन्थ समाप्त हुआ ।



श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक सं०

श्लोक सं०

[अ]

अकारादिहकारात्मा:
अचेतनं भवे नाहं
अत एवान्यशून्योऽपि
अत एवोत्तमो मोक्षः
अत्रेवानो निषेधन्ति
अत्रैव मायाहं काषु-
अप्यवांगति जानाती-
अथवा भाविनो भूताः
अनन्तज्ञानदृशीर्य-
अनन्तदर्शनज्ञान
अनादिनिधने इव्ये
अनेकान्तात्मकरवेत्
अन्यक्षणरीरमन्योऽहं
अन्यत्र वा भवचिद्वदेशो
अन्यथा व लिपतेष्वर्थोऽव-
अन्यात्माभावो नैरात्मयं
अप्रमत्तः प्रमत्तव्य
अभावो वा निरोषः स्या-
अभिन्नकर्तृकमादिः
अभिन्नमात्ममन्यत्
अभ्येत्य मम्यगामायं
अर्थव्यञ्जनपथयोः
अस्ति वास्तवसर्वाः

[आ]

आकर्षणं वशीकारः
आकारं महापूर्य
आजापायो विपाकं च
आन्मनः परिणामां यो

१०७	आत्मानमन्यसम्पूर्कतं	१७७
१५०	आत्मायस्त् निरावाप	२४२
१७३	आत्मनित्कः स्वहेतुयोः	२३०
२४७	आदौ मध्येऽवसाने यद्	१०१
८३	आत्मं रोदं च दुष्यनिं	३४
२१९	आत्मवन्ति च पुष्पानि	२२६
६२	[इ]	
११२	इति चेन्मन्यसे गोहात्	२४१
२३९	इति संक्षेपतो ग्राह्य—	४०
१२०	इत्यादीन्मत्विणो मन्त्रा-	१०८
११२	इवं युःशकं ध्यातुं	१८१
२४९	इन्द्रियाणां प्रकृती च	७६
१४९	इष्टे इयेये स्थिरा	७२
११	[उ]	
१	[ऊ]	
१७६	उभयस्मिन्निरुद्धे तु	१६७
४६	[ए]	
६४	एकं प्रधानमिष्याहु	५७
२९	एकाद्यचित्तारोषो	५६
९७	एकाद्यग्रहणं चात्र	५९
४२	एकं च कर्ता करणं	७३
११६	एतद्द्वयोरपि ष्येयं	१८०
२	एवं नामादिभेदेन	१३१
	एवं विषमिदं वस्तु	११५
२११	एवं लैश्वानरी भूयं	२०६
१८३	एवं सम्यग्विनिश्चत्य	१५९
९८	एवमादि यदन्यच्च	२१६
५२	एवमादीनि कार्याणि	२१२

	संख्या		प्रतीक रुप
[क]			
कर्मजेभ्यः समस्तेभ्यो	१६४	तत्त्वानुशासनम् कर्त्तव्य	१७४
कर्मजन्मनविक्रियाद्	२३१	तत्त्वानुशासनम् वन्धुहेतुनां	२२
कर्माशिष्ठातुदेवानां	२१४	तत्तोऽनपेतं यज्ञार्थ	१९३
किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा	१३८	तत्तोऽवतीर्ण मत्येऽपि	२२८
किमत्र बहुनोक्तेन यद्	२०९	ततो व्याप्त्या समस्तस्य	२५१
कि च भार्तु पदीदं स्थात्	१९४	तत्त्वानुशासनमुदासीन-	२२१
कुरुमकीस्तम्भमुद्गाढा-	२०४	तत्र बन्धः स हेतुभ्यो	६
जीरोदधिमयो भूत्वा	२०८	तत्र सर्वेन्द्रियासौदि	२२७
[ग]		तत्रात्मन्यसहाये	६५
गणभूदवलयोक्तेन	१०६	तत्रादी पिण्डसिद्धिर्थ	१८५
गुप्तेन्द्रियमना ध्याता	३८	तत्रात्मि तत्त्वतः पद्म	११९
गुरुपदेशमासाद्य	१९६	तत्रासन्नी भवेन्मुक्तिः	४१
[च]		तथात्मापापमापानां	१३५
चतुर्स्त्रिवान्महावच्च मैः	१२५	तथाहि चेतनोऽसंक्षय-	१४७
चरितारो न चेत्पत्ति	८६	तथाहु चरमांगस्य	२२५
चित्ताभावो न जीनानां	१६०	तदर्थानिनिर्विग्रहन्	१९
चेतनोऽचेतनो वार्षी	१११	तदा च परमेकाग्रणात्	१७२
चेतसा लक्षणा तन्वा	२७	तदा तथाविषब्ध्यान-	१३६
[ख]		तथात्म योगिनो योग-	५१
जन्माभिवेक प्रमुख-	१२६	सदेवानुभवाय-	१७०
जिनेन्द्रप्रतिविम्बानि	१०९	तदृष्यानाविष्टमालोक्य	१९९
जिनेन्द्राः सधूक्यामवलङ्घ-	२५८	तम् चोर्यं पक्षोस्माभि-	१८१
जीवादयो नवाप्यर्था	२५	तमोहृस्तीक वाहात्म्यं	२४५
जीवादिद्रव्यावात्म्य	१५२	तस्मादेतस्य मोहस्य	२०
ज्ञानं श्रीराध्युरारोग्यं	११८	तस्मान्मोहप्रहाणाय	१४६
ज्ञानवैराग्यरञ्ज्यम्	७७	तस्मालक्षण्यं च शाश्वं च	१८२
ज्ञानवैराग्यरञ्ज्यम्	६९	तावृक्षामप्रथमात्रे तु	३६
ज्ञानवृत्त्युदयादयेष्व-	१०	तापथयोपतप्तेभ्यो	३
[त]		ताम्या पुनः कषायाः स्फु-	१७
तता पक्षवनस्पतारै	१८६	तिष्ठत्येष त्वरणे	२३६
ततः सोऽन्तरस्यक्त-	२३३	तेषामुत्तमं तेजो	१२८

प्रकोप सं०	तत्त्वानुशासन	प्रकोप सं०
२५७	नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो	१४८
१८	नाम च स्यापर्न इव्यं	११
२०२	नासाग्र व्यस्तलिष्यन्व-	१३
२१८	निरस्तनिद्रो निर्भीति-	१५
	निवृथयनयेन भणित-	३१
	निरैवयादव्यवहारात्म्य	१६
१४३	[ष]	
१२४	दिवामुः स्वं परं कात्था	
१६३	दूरमुलसृज्यभूमार्गं	११०
२५९	दृष्ट्योषसाम्यरूपत्वा	१८७
३१	देहज्ञोतिथि यस्य मण्डति	१७८
४८	देशः कालदृष्टि सोऽन्वेष्य	१७५
७८	द्रव्यक्षेत्रादिसामग्री	२०१
७३२	द्रव्यध्येयं बहिकंस्तु	२४२
५८	द्रव्यप्रयाप्तियोर्मध्ये	११७
६३	द्रव्याग्निकनयादेकः	
३०	[ष]	
१३४	षमादिश्रद्धान् सम्पर्कत्वं	
७१	षातुपिष्ठे स्थितस्वीकृ	
३७	ध्यातरि ध्यायते ध्येयं	
८५	ध्याता ध्यानं फलं ध्येयं	
११७	ध्यातारस्तेन सन्त्यग्न	
२१८	ध्यातोऽर्हतिसद्गुणेण	
२२४	ध्यानस्य च पुनर्भूत्यो	
१३३	ध्यानाम्यासप्रकर्षेण	
६७	ध्याने हि विभ्रते स्वीकृ	
१०३	ध्यायते येन सदृश्यानं	
७०	ध्यायेदृढं ए ओ	
२४०	ध्यायेष्वलिङ्गनं ध्यानं	
१८८	[न]	
२३७	ननु चार्जीस्तदयनि-	
१६६	नन्यर्हस्तमात्मनं	
	न मुहूर्ति न संशोष्ये	
	न ह्यान्त्रियविद्या दृश्यं	
	[न]	
	मतः कायदयो भिन्ना-	

प्राचीक सं०		प्राचीक सं०	
ममाहेष्वारनामानी	१३	ये कर्महता भावाः	१९
महासत्त्वः परिख्यक्त-	४५	येऽनाहूर्ण हि कालेऽयं	८२
भाव्यास्थ्यं समतोपेक्षा	१३९	येन भावेन यद्गृह्णं	१३१
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्	१६	येनोपायेन शक्येत	७८
मुख्योपचारमेवेत	४७	योऽप्य स्वस्वामिसम्बन्धी	१५१
मुक्तलोकहृष्यापेक्षाः	४८	यो मध्यस्थः पद्यति	३२
मूलव्याप्तुर्जितृतौ तु	२५०	यो धर्मप्रभुर्देव	२००
मोक्षहेतुपुर्वन्तुषेषा	२८	[र]	
मोक्षसत्त्वारणं चैतद्	५	रत्नवयमुपावाय	२३३
मोहद्वोहमदकोष-	२४४	[क]	
[य]			
यतु सासाधिकं सौख्यं	२४३	लोकाप्रशिक्षरात्म-	१२२
यत्पुनः पूरणं कुम्भो	२१३	[च]	
यत्पुनर्वज्ज्ञायस्य	८८	दण्डकायः स हि च्यात्का	२२९
यथानिवित्तेषास्यः	१७१	वस्त्रसंहस्रोपेताः	३५
यथाभ्यासेन ज्ञात्वाणि	८८	वपुषोऽप्तिभासेऽपि	१६८
यथा यथा समाध्यात्ता	१७१	वस्तुयाचाम्यविज्ञान-	२५५
यथैकमेकदा इत्य-	११०	वाच्यस्य व्राचकं नाम	१००
यत्प्रोक्तलक्षणो च्याता	८९	बीतरामोऽप्यं देवो	१२९
यदधेतत्तथा पूर्वं	१५६	वृत्तिमोहोदयाच्चत्तीः	११
यदत्त चकिणां सौख्यं	२४६	वेदात्मं वेदकर्त्तव्य	१११
यदत्त स्वलितं किञ्चि-	२५४	व्यवहार नयादेवं	१४८
यदाचिकं फलं किञ्चित्	२१७	[श]	
यदा व्यानक्तलाद्यत्ताता	१३१	शास्ववानात्मीयेषु स्व-	१४
यद्वयानरौद्रमातृता	२२०	पान्ते कर्मणि शान्तात्मा	२१०
यद्वयानरौद्रमातृता	२५३	शुभिं गुणयोक्ताम्भूतं	२२२
यद्वयानभीर-	२४८	शून्यागाते गुहायां च	१०
यद्वया अन्धस्व मोक्षस्व	११३	शून्योभवदित्तं विश्वं	५४
यद्विवृतं यथापूर्वं	१५५	शीर्षोरचन्द्रमुगदेवमहोक्तेषाः	२६६
यत्त चेतयते किञ्चिचन्	१६६	शृतज्ञानमुदासीनं	६६
यस्मिन्द्याभिनिवेदेन	१४१	शृतज्ञानेन भवता	६८
यस्तु नामन्तते शीतीं	५५	शुतिनि विकलेनापि	५०
यस्तु नामन्तते शीतीं			

हलोक सं०		हलोक सं०
	[स]	
संक्षेपेण यद्यनीकरं		सारखचनुष्टयेऽप्यस्मिन् २५२
मंगत्पाशः कवायाणां	१४०	सिद्धस्वार्थानिकोषार्थं १
स च मृक्षित हेतुरिदो	७५	सोऽयं समरसीभाव- १३७
सञ्ज्ञित्यन्तुप्रेक्षाः	३।	स्त्रात्सम्यग्वल्लनकालं २४
सति हि आतरि व्येदं	७९	स्युमित्यावर्णमज्ञानं ८
सबृद्धिशानवृत्तानि	११८	स्वपरज्ञप्तिस्वरूपत्वात् १६२
सद्गद्यमस्मिम् चिदह-	५।	स्वयं सुधामयो भूत्वा २०७
सन्नेवाहं सदाप्यस्मि	१५३	स्वयमालाङ्गले भूत्वा २०३
सप्ताकारं महामन्त्रं	१५४	स्वयमिष्टं त च द्विष्टं ११७
समाधिस्थेन यद्यात्मा	१०४	स्वरूपं सर्वजीवाना २३५
सम्यनुरूपदेशोन	१६९	स्वरूपावस्थितिः पुंसः २३४
सम्यरक्षामादिसम्पन्नाः	८७	स्वात्मानं स्वात्मनि ७४
सम्यग्निर्णीतजीवादि-	१३०	स्वात्मायः परमस्ताव- ८०
स स्वयं गल्हीमूर्य	५३	स्वात्मायादृश्यानमेष्यास्तां ८१
सहवृत्ता गुणोस्तत्र	२०५	[ह]
साकारं च निराकार-	११४	हमन्तो नभसि व्येयः १८४
मासयोनः प्रकृष्टागा-	१२३	हृत्यक्षुजे चतुःपत्रं १०२
	४९	हृदयेऽजगदले पदम् १०९

●